एमएपीएस- 518

(MAPS- 518)

# तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ

# (Comparative Politics and Political Institutions)

## राजनीति विज्ञान विभाग

## (समाज विज्ञान विद्याशाखा)

## उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

# MAPS-518 (एम.ए.पी.एस-518)

# तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएँ

# Comparative Politics and Political Institutions


समाज विज्ञान विद्या शाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

**पाठयक्रम समिति**

| | |
|---|---|
| **प्रो. गिरिजा प्रसाद पाण्डे**<br>**निदेशक – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी नैनीताल | **प्रो0 मदन मोहन जोशी**<br>**निदेशक (कार्यवाहक) – समाज विज्ञान विद्या शाखा,**उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी ,नैनीताल |
| **प्रो०एम.एम सेमवाल**<br>राजनीति विज्ञान विभाग<br>हेमवती नंदन बहुगुणा केन्द्रीय गढ़वाल विश्वविद्यालय<br>श्रीनगर, गढ़वाल | **प्रो0 दुर्गाकान्त चौधरी**<br>राजनीति विज्ञान विभाग<br>श्रीदेव सुमन विश्वविद्यालय<br>ऋषिकेश परिसर, ऋषिकेश |
| **प्रो0 सतीश कुमार**<br>राजनीति विज्ञान विभाग<br>इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली | **डॉ घनश्याम जोशी**<br>असिस्टेंट प्रोफेसर लोक प्रशासन<br>उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल |
| **डॉ लता जोशी**<br>असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान<br>उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | **डॉ आरूशी**<br>असिस्टेंट प्रोफेसर (एसी) राजनीति विज्ञान<br>उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल |
| **पाठ्यक्रम संयोजन एव सम्पादन**<br>**डॉ0 आरुशी हिंवाली शुक्ला ,** असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एसी), राजनीति विज्ञान ,उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | |

**इकाई लेखक** **इकाई संख्या**

| | |
|---|---|
| डॉ आशुतोष पांडे , एसोसिएट प्रोफे.राजनीति विज्ञान विभाग डॉ. शकुंतला मिश्र पुनर्वास वि.वि. लखनऊ | 1,5,6,7 |
| डॉ लता जोशी, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | 2 |
| डॉ . घनश्याम जोशी, लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | 3,4 |
| नियति रावत, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | 8 |
| डॉ. विजय प्रताप मल्ल जे.एल.नेहरू पी.जी.कालेज बाराबंकी | 9,11,14 |
| डॉ आरुशी हिंवाली शुक्ला, राजनीति विज्ञान , विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय ,हल्द्वानी, नैनीताल | 10,12,13 |

**आई.एस.बी.एन. ----------**

**कापीराइट @** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष -2025

Published by : उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,हल्द्वानी, नैनीताल 263139

Printed at :----------

**संस्करण :**2025, सीमित वितरण हेतु पूर्व प्रकाशन की प्रति।

**सर्वाधिकार सुरक्षित | इस प्रकाशन का कोई भी अंश** उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति लिए विना मिमियोग्रफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है

**मुद्रित प्रतियां**

| इकाई संख्या | इकाई का नाम | पेज संख्या |
|---|---|---|
| 1 | संविधानवाद- अर्थ, आधार एवं विभिन्न अवधारणाएं | 1-9 |
| 2 | सरकारों के प्रमुख वर्गीकरण- परंपरागत एवं आधुनिक | 10-34 |
| 3 | एकात्मक- संघात्मक शासन व संघवाद की आधुनिक प्रवृतियाँ | 35-48 |
| 4 | संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियाँ | 49-63 |
| 5 | व्यवस्थापिका - एकसदनीय ,द्विसदनीय, व्यवस्थापिका का पतन | 64-80 |
| 6 | कार्यपालिका | 81-90 |
| 7 | न्यायपालिका | 91-99 |
| 8 | लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र | 100-110 |
| 9 | राजनीतिक दल | 111-127 |
| 10 | निर्वाचन प्रणालियाँ | 128-143 |
| 11 | दबाव समूह और राजनीति | 144-164 |
| 12 | नागरिक समाज एवं हित समूह | 165-179 |
| 13 | जनमत | 180-191 |
| 14 | प्रतिनिधित्व अर्थ: प्रकृति, प्रतिनिधित्व के प्रकार | 192-209 |

# इकाई 1 संविधानवाद-अर्थ, आधार एवं विभिन्न अवधारणाएं

इकाई की रुपरेखा

1.1 उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

1.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

1.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

1.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

1.7 संविधानवाद की समस्याएँ

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 1.1 प्रस्तावना

संविधानवाद एक व्यापक अवधारणा है, जिसे संविधान या सांविधानिक सरकार का पयार्यवाची समझना उचित नहीं है। प्रारंभ से ही मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक संगठन में रहता आया है। अरस्तू के मतानुसार मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में सामाजिकता का तत्त्व बढ़ता जा रहा है, त्यों-त्यों राजनीतिक संगठन की उपयोगिता भी बढ़ती जा रही है। एक ओर मनुष्यों में राजनीतिक संगठन के अंतर्गत रहने की प्रवृत्ति रही है तो दूसरी ओर वे स्वतंत्रता के लिए अधिक-से-अधिक चिंतित रहे हैं। व्यक्तिगत स्वतंत्रता और राजनीतिक सत्ता के बीच संघर्ष का इतिहास समाज व राज्य की उत्पत्ति के साथ ही प्रारंभ हुआ। राजनीतिक संगठन में रहते हुए व्यक्ति इस बात के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है कि सरकार स्वेच्छाचारी या अधिनायकवादी न बन जाए। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब तानाशाही तथा स्वेच्छाचारी सरकारों ने नागरिकों की स्वतंत्रता का अपहरण करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। फलस्वरूप, यह प्रयास किया जाने लगा कि किसी ऐसे राजनीतिक संगठन की स्थापना की जाए, जिसके अंतर्गत शासकों की शक्ति नियंत्रित तथा मर्यादित रहे और वे उनका सदुपयोग करें, न कि दुरूपयोग। संविधानवाद का इतिहास तथा पृष्ठभूमि यहीं से प्रारंभ होती है।

## 1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- संविधान और सांविधानिक सरकार की आवश्यकता को बता सकेंगें।
- संविधानवाद  की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन कर सकेंगे।
- संविधानवाद की अवधारणाएँ की व्याख्या कर सकेंगे।
- संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ के बारे में विवेचना कर सकेंगे।

## 1.3 संविधान और सांविधानिक सरकार

संविधानवाद किसे कहते हैं, यह प्रश्न तो सरल है, परंतु इसक उत्तर उतना सरल नहीं है। संविधानवाद की कोई निश्चित तथा स्पष्ट परिभाषा नहीं दी जा सकती। संविधानवाद को समझने के लिए संविधान को समझना आवश्यक है। प्रत्येक राज्य में एक संविधान होता है, भले ही वह राज्य लोकतांत्रिक हो या स्वेच्छाचारी। सामान्यतः, संविधान का अभिप्राय एक ऐसे आलेख से होता है, जो निश्चित समय में निर्मित व स्वीकृत हो। कई विद्वानों ने संविधान की इस परिभाषा पर आपत्ति व्यक्त की है। उन्होंने कहा है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि संविधान लिखित ही हो। संविधान का अर्थ समझने के क्रम में सांविधानिक सरकार का अर्थ समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जहाँ संविधान हो, वहाँ सांविधानिक सरकार हो। अधिनायकवादी तथा स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्थाओं में भी

संविधान होता है, परंतु उस सरकार को सांविधानिक सरकार नहीं कहा जा सकता। हिटलर तथा मुसोलिनी की सरकारों को संविधान रहने के बावजूद सांविधानिक नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वहाँ शासन का आधार संविधान नहीं था,वरनउन अधिनायकों एवं तानाशाहों की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ थीं। अतः राज्य में केवल संविधान के होने मात्र से सरकार सांविधानिक नहीं बन जाती। केवल वह सरकार ही सांविधानिक सरकार कही जाएगी, जो संविधान पर आधृत हो तथा संविधान द्वारा सीमित और नियंत्रित हो।

## 1.4 संविधानवाद का उद्भव एवं विकास

संविधानवाद की उत्पत्ति और विकास का एक क्रमिक इतिहास है। संविधानवाद को सही रूप से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसके विकास के इतिहास को जानना अत्यावश्यक है। संविधानवाद के विकास का इतिहास राजनीतिक संस्थाओं के विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है। संविधानवाद की उत्पक्ति की एक निश्चित तिथि की ओर इंगित करना कठिन है, फिर भी उस सामान्यकाल का संकेत प्राप्त हो सकता है जहाँ से संविधानवाद एक अवधारणा के रूप में प्रचलित हुआ।

संविधानवाद की उत्पत्ति के संबंध में प्राचीन यूनान के एथेंस नगर का नाम लिया जा सकता है। कहा जाता है कि ईसा के पूर्व 624 से लेकर 724 तक की अवधि में संविधानवाद का जन्म हुआ। इसी काल में संविधानों का प्रणयन हुआ। राज्य के स्वरूप, व्यवस्था तथा इसके कार्यचालन को नियमित करने के लिए नियमों एवं सिद्धांतो का निर्धारण हुआ। यूनानी राजनीतिक चिंतकों ने राज्य-व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करने के क्रम में संविधानवाद की भी बीज बोया। यूनान की धरती पर उत्पन्न और अंकुरित संविधानवाद की टहनियाँ विश्व के दूसरे-दूसरे देशों में ले जाई गईं। शनैः-शनैः संविधानवाद प्रस्फुटित होता गया और अन्य देशों में इसकी जड़ें जमती गईं।

संविधानवाद के जन्म से लेकर आज तक के इतिहास को एक काल या एक चरण में नहीं रखा जा सकता। अनेक चरणों तथा अनेक कालों से गुजरता हुआ संविधानवाद का वर्तमान काल में पदार्पण हुआ। अध्ययन की सुविधा के लिए संविधानवाद के विकास के इतिहास को निम्नलिखित कालों या चरणों में बाँटा जा सकता है। यूनानी संविधानवाद के संबंध में सबसे पहली बात यह कही जा सकती है कि यूनानियों ने राजनीतिक पृथकतावाद के सिद्धांत को अपने जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना था। उन्होंने नगर-राज्य की स्थापना की थी, जिसके अंतर्गत नागरिकता कुछ ही लोगो तक सीमित थी। दास, श्रमिक, औरतों तथा अन्य कई ऐसे वर्ग थे, जिन्हें नागरिकता से वंचित रखा गया था।

नगर-राज्य व्यवस्था के पतन तथा रोमन साम्राज्य की स्थापना के बीच की अवधि में राजनीतिक एवं सांविधानिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए। राज्य के साथ-साथ व्यक्ति को भी प्रधानता मिली। नीति और राजनीति का पृथक्करण हो गया। रोमन संविधानवाद ने एक साथ दो सिद्धांत को मान्यता दीः-

(1) सम्राट की इच्छा को कानूनी शक्ति प्राप्त है।

(2) सम्राट की शक्तियों का स्त्रोत जनता है।

रोमन साम्राज्यवाद के पतन के बाद सामंतवाद का उदय हुआ। मध्यकाल सामंतवाद चर्च की प्रधानता के सिद्धांत के साथ जुड़ा हुआ माना जाता है। यूरोप में छोटे-छोटे अनेक सामंतवादी राज्यों की स्थापना हुई। राजनीतिक विचारकों के मतानुसार मध्यकाल 'राज्यविहीन' व्यवस्था का प्रतीक था। मध्यकाल के प्रथम चरण में चर्च की प्रभुता रही, परंतु उत्तरार्द्ध में सम्राटों ने चर्च की प्रधानता को चुनौती दी। इस अवधि में ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेन की आंतरिक राजनीति में आधुनिक राज्य का बीजारोपण हो गया, जबकि जर्मनी और इटली पर वर्षों तक पवित्र रोमन साम्राज्य का प्रभाव बना रहा। फ्रांस में स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के नारों ने निरंकुश राज्य पर प्रहार किया, जिसके परिणामस्वरूप संविधानवाद के नए आयामों का जन्म हुआ। पुनर्जागरण काल में मानवीय एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ। कला, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में नए आयाम जुड़े तथा नए मूल्यो का जन्म हुआ। इस काल में असीमित राजतंत्र की स्थापना हुई। कई विद्वानों के अनुसार पुनर्जागरण काल में असीमित राजतंत्र के कारण संविधानवाद का विकास अवरूद्ध हो गया था।

संविधानवाद के उद्भव और विकास के इतिहास का अवलोकन करने के बाद हमारे सम्मुख कुछ बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, संविधानवाद द्वारा सांविधानिक ढंग से शासन-संचालन की प्रक्रिया की अनुशंसा की गई। दूसरे शब्दों में, शासन-संचालन का आधार विधि का शासन हो। व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह की इच्छाओं और आकांक्षाओं को शासन का आधार नहीं होना चाहिए। द्वितीय, संविधानवाद में तीन तत्त्व निहित हैं। राष्ट्रवाद, लोकतंत्र तथा स्वशासन। तृतीय, शासन की सत्ता जनता में ही निहित होनी चाहिए। चतुर्थ, संविधानवाद के अंतर्गत अंतरराष्ट्रीयता विश्व के देशों के बीच मैत्री और सद्भाव पर टिकी होती है। संविधानवाद वस्तुतः आज भी विकास की अवस्था में ही है। आज भी इस संबंध में नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। तृतीय विश्व कहलानेवाले देशों में आज भी संविधानवाद का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है। इसके सम्मुख अनेक चुनौतियाँ हैं, अनेक बाधाएँ हैं। एक ओर इसे पाश्चात्य लोकतंत्र से बल मिल रहा है तो दूसरी ओर इसे साम्यवाद से खतरा भी पैदा हो रहा है। यद्यपि साम्यवाद को संविधानवाद के मॉडेल के रूप में माना गया है, तथापि अनुभव इस बात साक्षी है कि साम्यवादी व्यवस्था संविधानवाद के विकास के अनुकूल नहीं हो पा रही है। इन देशों में साम्यवादी दल संविधानेतर स्तर पर भूमिका अदा कर संविधानवाद की आत्मा पर आघात कर रहा है।

## 1.5 संविधानवाद की सामान्य विशेषताएँ

संविधानवाद की व्याख्या के क्रम में संविधानवाद की कुछ विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। यहाँ उन विशेषताओं का उल्लेख किया जाना आवश्यक है:-

(1.)संविधानवाद मूल्य-संबद्ध अवधारणा है- संविधानवाद उन मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों की ओर संकेत करता है, जो राष्ट्र और समाज को प्रिय हैं और जिनकी रक्षा, प्राप्ति तथा आवश्यक प्रगति के लिए समाज हर

प्रकार का त्याग एवं कुर्बानी कर सकता है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से ये विचार एवं आदर्श अभिजनों द्वारा प्रदान किए जाते हैं, परंतु अंततोगत्वा ये विचार एवं आदर्श व्यवहार में विचारशील वर्ग द्वारा जनता तक पहुँचाए जाते हैं।

(2.)संविधानवाद संस्कृति-संबद्ध अवधारणा है- किसी भी देश के मूल्य, आदर्श एवं विचार वहाँ की संस्कृति से संबद्ध या जुड़े हुए होते हैं। वे वस्तुतः संस्कृति की उपज हैं। इस दृष्टिकोण से संविधानवाद भी संस्कृति से संबद्ध रहता है। यदि किसी राजनीतिक समाज में संस्कृति में विविधता या भिन्नता पाई जाती है तो यहाँ संविधानवाद विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय-सूचक माना जाता है।

(3.)संविधानवाद गत्यात्मक अवधारणा है- संविधानवाद की यह एक मुख्य विशेषता है कि यह एक गत्यात्मक अवधारणा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में स्थिरता है ही नहीं। राजनीतिक विकास के लिए गत्यात्मकता एवं स्थायित्व दोनों आवश्यक हैं। संविधानवाद को स्थायित्वयुक्त गत्यात्मक अवधारणा कहना ज्यादा युक्तिसंगत होगा। संविधानवाद पुराने मूल्यों तथा आदर्शों का संकेत तो है ही, यह एक नए मूल्यों एवं विचारों के निर्माण प्राप्ति का भी साधन है। इसी दृष्टि से इसे गत्यात्मक अवधारणा कहा जाता है।

(4.)संविधानवाद सहभागी अवधारणा है- ऐसा देखा गया है कि एक राष्ट्र के मूल्यों, विश्वासों, राजनीतिक आदर्शों तथा संस्कृति के प्रति कई अन्य राष्ट्रों की निष्ठा या आस्था हो सकती है। कई देशों के मूल्य, संस्कृति तथा राजनीतिक आदर्श एकसमान हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, अनेक पाश्चात्य देशों के मूल्यों, विश्वासों तथा राजनीतिक आदर्शों में समानता पाई जाती है। विकासशील लोकतांत्रिक देशों में यद्यपि कई मुख्य असमानताएँ परिलक्षित होती हैं, तथापि स्थूल रूप से संविधानवाद एस-सा ही कहा जा सकता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि संविधानवाद एक सहभागी अवधारणा है।

(5.)साध्यमूलक अवधारणा- संविधानवाद को एक साध्यमूलक अवधारणा के रूप में भी लिया गया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि संविधानवाद में साधनों की उपेक्षा की गई है। कोई भी साध्य साधन के बिना संभव नहीं है। इस संदर्भ में हम इतना कह सकते हैं कि संविधानवाद प्रधानतः एक साध्यमूलक अवधारणा है, जिसमें साधनों को स्थान गौण है।

(6.)संविधानजन्य अवधारणा- संविधानवाद संविधानजन्य अवधारणा है। सामान्यतः हर देश के संविधान में वहाँ की आस्थाओं का उल्लेख रहता है। मूल्यों एवं राजनीतिक आदर्शों से युक्त संविधान संविधानवाद की आधारशिला है, जिस पर संविधानवाद की नींव टिकी रहती है।

## 1.6 संविधानवाद की अवधारणाएँ

संविधानवाद को किसी एक विचारधारा के अंतर्गत बाँधना उचित नहीं है। कई पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों ने संविधानवाद की एक ही अवधारणा को मान्यता दी है। उनके अनुसार उदार लोकतंत्रीय अवधारणा की संविधान की अवधारणा है। यह मत युक्तिमूलक नहीं कहा जा सकता है। संविधानवाद राजनीतिक समाज के आदर्शों, लक्ष्यों,

विश्वासों एवं मूल्यों को परिलक्षित करता है। प्रत्येक राजनीतिक समाज के लक्ष्य, आदर्श एवं विश्वास अलग-अलग होते हैं, इसलिए संविधानवाद की एक अवधारणा की मान्यता सही नहीं है। संविधानवाद के संबंध में अब तक जो अवधारणाएँ उपजी है, उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है:-

(1) पाश्चात्य अवधारणा

(2) साम्यवादी देशों की अवधारणा और

(3) विकासशील देशों की अवधारणा।

**पाश्चात्य अवधारणा**

संविधान की पाश्चात्य अवधारणा इस बात का प्रतिपादक है कि संविधानवाद साध्य भी है और साधन भी। यह मूल्यविहीन तथा मूल्यजन्य दोनों है। कोई भी संविधान आदर्श एवं लक्ष्यों से परे नहीं होता है, इसलिए संविधानवाद को मूल्यविहीन कहना उचित नहीं है। पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार संविधानवाद केवल सरकार के अंगों के संगठन एवं शक्तियों का ही उल्लेख नहीं करता,वरनस्वतंत्रता, समानता, न्याय तथा अधिकारों को भी यथोचित महत्त्व देता है।

संविधानवाद का मुख्य लक्ष्य वैसे मूलभूत सिद्धांतों का प्रतिपादन करना है, जिसके अंतर्गत संविधान और सरकार के बीच के अंतर स्पष्ट रूप से परिलक्षित हों। संविधानवाद सरकार को अपने आदर्शों एवं लक्ष्यों के अनुरूप काम करने के लिए आवश्यक व्यवस्था करता है। यही कारण है कि शासन-संचालन को नियमित करने के लिए संविधान विभिन्न प्रकार के अवरोधों और प्रतिबंधों की व्यवस्था करता है। ये प्रतिबंध सरकार की असीमित एवं स्वेच्छाचारी शक्तियों पर नियंत्रण रखते हैं। सारतः संविधानवाद की पाश्चात्य अवधारणा एक ऐसे सांविधानिक राज्य की स्थापना करना चाहती है, जो स्थापित एवं मान्य विधि के सिद्धांतों और अभिसमयों की सीमा के अंतर्गत काम करें। यदि संविधान या सरकार में परिवर्तन होना हो तो वह शांतिपूर्ण ढंग से हो। पाश्चात्य संविधानवाद को 'उदारवाद का दर्शन' कहा जाता है।

**साम्यवादी अवधारणा**

संविधानवाद की साम्यवादी अवधारणा मार्क्स तथा लेनिन की विचारधारा पर आधृत है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य एक शोषण-यंत्र है, जिसके द्वारा पूँजीपतिवर्ग सर्वहारावर्ग या श्रमिकों का शोषण करते हैं। इसी विचारधारा से प्रभावित सोवियत संविधानवाद के प्रवर्तकों का यह मत है कि संविधान एक साधन मात्र है, जिसका उद्देश्य समाजवादी विचारधारा को लागू करना है। संविधान सर्वहारावर्ग एवं साम्यवादी पार्टी का उपकरण है, जिसके द्वारा रूस या चीन में वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना की जा सके। सोवियत रूस, चीन तथा अन्य साम्यवादी देशों में संविधान का उद्देश्य सरकार की शक्तियों को सीमित करना नहीं,वरनउसमें विस्तार करना है।

साम्यवादी राज्यों में पार्टी का प्रभुत्व रहता है। इन देशो में एकदलीय पद्धति है। साम्यवादी पार्टी सर्वहारावर्ग का संरक्षक एवं प्रतिपालक मानी जाती है। इन देशों में पार्टी की प्रधानता सर्वोच्च है। संविधान गौण है। संविधान का उद्देश्य केवल पार्टी को साम्यवादी लक्ष्यों को पूरा करने में सहायता प्रदान करना है। साम्यवादी देशों में सोवियत व्यवस्था ही प्रतिमान के रूप में स्वीकार किया गया है। चीन और सोवियत रूस के बीच विचारधाराओं की भिन्नता का संकेत है। कुछ पूर्वी यूरोप के राज्यों में भी सोवियत रूस तथा चीन से भिन्न राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की गई है। इन भिन्नताओं के बावजूद सोवियत रूस ही साम्यवादी देशों का प्रतिमान है, मॉडेल है।

साम्यवादी विचारकों ने पाश्चात्य संविधानवाद की भर्त्सना की है। उनके मतानुसार पाश्चात्य देशों में सरकार और संविधान शोषण के यंत्र हैं। संसदीय शासन-प्रणाली लोकतंत्र के नाम पर छलावा है। उनका कहना है कि साम्यवादी व्यवस्था वास्तविक रूप में लोकतांत्रिक व्यवस्था है, क्योंकि यहाँ समस्त सर्वहारावर्ग शासन-प्रबंध में सहयोगी है। दूसरी ओर पाश्चात्य विचारकों का यह मत है कि साम्यवादी देश संविधानवाद के अनुकूल नहीं है, क्योंकि यहाँ पार्टी का अधिनायकवाद है। यहाँ संपूर्ण शासन-व्यवस्था पर पार्टी का अधिनायकवाद है।

यह सत्य है कि पश्चिमी देशों की तरह साम्यवादी देश संविधानवाद के लिए अनुकूल वातावरण तैयार नहीं कर पाए हैं, परन्तु आज साम्यवादी देशों को संविधानवाद के इतिहास के पृष्ठों से निकाल फेंकना भी संभव नहीं। लोकतंत्र के झंडे को ऊँचा उठानेवाले पाश्चात्य देश भी यह दावा नहीं कर सकते कि वहाँ शासन-व्यवस्था में अधिक-से-अधिक लोग भाग लेते हैं। आम चुनावों को छोड़कर अधिकांश अवसरों पर कुछ ही लोग निर्णयकारी प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

**विकासशील देशों में संविधानवाद की अवधारणा**

विकासशील देशों में संविधानवाद के स्वरूप की कोई निश्चित पहचान नहीं बनी है। यहाँ संविधानवाद प्रयोगात्मक अवस्था में है। तृतीय विश्व के देशों की समस्याएँ भिन्न-भिन्न हैं। साथ-ही-साथ उनमें परिपक्वता का भी अभाव है। कुछ देश पाश्चात्य संविधानवाद से प्रभावित दिख पड़ते हैं। कुछ देशों पर साम्यवादी व्यवस्था की छाप दिखाई पड़ती है। कुछ देशों में उथल-पुथल के कारण सैनिक शासन स्थापित हो गया है।

## 1.7 संविधानवाद की समस्याएँ

संविधानवाद आज इस विकसित और उन्नत अवस्था में पहुँच गया है कि इसके नष्ट होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसका भविष्य भी अंधकारमय नहीं। परंतु, यह भी मान लेना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता कि संविधानवाद का मार्ग कंटकमुक्त है। आज विश्व के राजनीतिक रंगमंच पर इतने उतार-चढ़ाव हो रहे हैं कि यदा-कदा ऐसा लगता है कि संविधान का भविष्य खतरे में है। जिस ढंग से तृतीय विश्व के देशोंमेंसैनिक शासनों की स्थापना हो रही है, उससे कभी कभी संविधानवाद के स्वास्थ्य के संबंध में आशंकाओं का उत्पन्न होना अस्वाभाविक नहीं लगता। संविधानवाद के सम्मुख कई समस्याएँ हैं, कई चुनौतियाँ हैं। जब तक इन समस्याओं का सही ढंग से निराकरण नहीं हो पाता, तब तक संविधानवाद का भविष्य आशंकाओं और दुष्यंताओं के झूले में झूलता रहेगा।

अभ्यास प्रश्न

1."सरकार के निरंकुश कार्यों को सीमित करना संविधान का कार्य है।" यह विचार किस लेखक का है।

2.कौन-सा विचारक पाश्चात्यक राजनीतिक चिंतन में संविधानवाद् का जनक माना जाता है।

## 1.8 सारांश

यह सत्य है कि समाजवादी विचारधारा के अंतर्गत कुछ ऐसे तत्त्व हैं। जिनसे संविधानवाद के लिए समस्याएँ पैदा हो सकती है। परंतु, आधुनिक संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी नहीं माना जाता है। आज के युग की तीन मुख्य अवधारणाएँ हैं-राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतंत्र। संविधानवाद की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किस सीमा तक इसके अंतर्गत इन धारणाओं का समावेश किया जाता है और इनके बीच समन्वय स्थापित किया जाता है। इंगलैंड के संविधान में फेबियनवाद को स्थान दिया गया है। भारतीय संविधान ने भी लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए आधार तैयार किया है। अतः, आधुनिक संविधानवाद को भी नई आर्थिक व्यवस्थाओं को स्थान एवं महत्त्व देना होगा।

समाजवाद-संविधानवाद समीकरण का अतीत भले ही निराशाजनक रहा हो, दोनों में कितनी ही भिन्नता रही हो, आज समाजवाद के सिद्धांतों को लोकतंत्र तथा संविधानवाद के सिद्धांतों से मिलाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज यह नहीं कहा जा सकता कि सोवियत रूस में संविधानवाद असफल हो गया है या नष्ट हो गया है। सोवियत रूस में साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना हुए साठ वर्ष हो गए, परंतु वहाँ के लोगों में इस व्यवस्था के प्रति न तो असंतोष है और न ही गंभीर विरोध। पाश्चात्य लोकतंत्र के साथ संविधानवाद को मिला देना उचित नहीं है। लोकतंत्र के अनेक प्रतिमान हो सकते हैं। यह सत्य है कि लोकतंत्र संविधानवाद के विकास के लिए ज्यादा अनुकूल है, परंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि समाजवाद लोकतंत्र का शत्रु है। आज साम्यवादी देशों में संविधानवाद अपने ढंग से बढ़ रहा है। अतः, आज के संदर्भ में समाजवाद को संविधानवाद का विरोधी कहना उचित नहीं है।

## 1.9 शब्दावली

1.संविधानवाद-संविधानवाद उन मान्यताओं, आस्थाओं तथा मानव मूल्यों का नाम है, जिनका संविधान में वर्णन तथा समर्थन होता है और जिनकी उपलब्धि तथा सुरक्षा हेतु राजनीतिक शक्ति पर प्रभावशाली नियंत्रणों एवं प्रतिबंधों की व्यवस्था होती है।

2.संविधान- वह विधान, कानून या सिद्धांत जिसके अनुसार किसी राज्य, राष्ट्र या संस्था का संघटन, संचालन तथा व्यवस्था होती है।

3.कानून का शासन- इसका अर्थ है कि कानून सर्वोपरि है तथा वह सभी लोगों पर समान रूप से लागू होती है।

## 1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स्ट्रांग, 2. अरस्तू

## 1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

## 1.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

## 1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधानवाद से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. संविधानवाद के मुख्य आधारों का उल्लेख कीजिए तथा संविधान एव संविधानवाद के बीच अन्तर बताइए।
3. संविधानवाद के उद्भव एवं विकास का अनुरेखण करें।
4. संविधानवाद की मुख्य अवधारणाओं का उल्लेख करें।

## इकाई : 2 सरकारों के प्रमुख वर्गीकरण: परंपरागत एवं आधुनिक

**इकाई की रुपरेखा**

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 सरकारों का परंपरागत वर्गीकरण

2.3.1 अरस्तू का वर्गीकरण

2.3.2 अरस्तू के वर्गीकरण का चक्रीय सिद्धांत

2.4 परंपरागत वर्गीकरण की आलोचना

2.4 .1 अरस्तू के शासन वर्गीकरण की आलोचना: जेम्स विलफोर्ड गार्नर के दृष्टिकोण से

2.5 सरकारों का आधुनिक वर्गीकरण

2.5.0 मोन्टेस्क्यू का शासन वर्गीकरण: मुख्य आधार

2.5.1 शक्ति के विभाजन के आधार पर: एकात्मक एवं संघात्मक

2.5.2 कार्यपालिका और विधायिका के संबंधों के आधार पर: संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक

2.5.3 वैधता और विचारधारा के आधार पर: लोकतांत्रिक एवं सर्वाधिकारवादी

2.6 सारांश

2.7 शब्दावली

2.8 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.10 निबंधात्मक प्रश्न

## 2.1 प्रस्तावना

राजनीति विज्ञान के अध्ययन में 'तुलनात्मक राजनीति' का एक केंद्रीय स्थान है। जब हम विभिन्न देशों की राजनीतिक व्यवस्थाओं को देखते हैं, तो पाते हैं कि हर देश में शासन करने का तरीका अलग है। कहीं जनता वोट देकर सरकार चुनती है, तो कहीं सेना का शासन है। कहीं शक्तियाँ एक जगह केंद्रित हैं, तो कहीं राज्यों में बंटी हुई हैं।

सरल शब्दों में, जिस प्रकार एक जीवविज्ञानी विभिन्न जीवों का वर्गीकरण करता है ताकि उनका अध्ययन आसान हो सके, ठीक उसी प्रकार राजनीति वैज्ञानिक सरकारों या राजनीतिक व्यवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। यह वर्गीकरण हमें यह समझने में मदद करता है कि कौन सी व्यवस्था किस परिस्थिति में बेहतर काम करती है।

इस इकाई में, हम प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक सरकारों को बांटने के तरीकों पर चर्चा करेंगे। हम शुरुआत अरस्तू के प्रसिद्ध वर्गीकरण से करेंगे और फिर आधुनिक समय की जटिल व्यवस्थाओं, जैसे कि संसदात्मक और अध्यक्षात्मक प्रणालियों की ओर बढ़ेंगे। दूरस्थ शिक्षा के विद्यार्थी के रूप में, आपके लिए यह समझना आवश्यक है कि ये वर्गीकरण पत्थर की लकीर नहीं हैं, बल्कि राजनीतिक वास्तविकता को समझने के औजार हैं।

## 2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद, आप सक्षम होंगे:

- सरकारों के वर्गीकरण की आवश्यकता और महत्व को समझने में।
- अरस्तू द्वारा दिए गए सरकारों के परंपरागत वर्गीकरण की व्याख्या करने में।
- परंपरागत वर्गीकरण की सीमाओं और आलोचनाओं का विश्लेषण करने में।
- आधुनिक युग में सरकारों के वर्गीकरण के आधारों (जैसे- संसदात्मक बनाम अध्यक्षात्मक, एकात्मक बनाम संघात्मक) को समझने में।
- लोकतंत्र और अधिनायकवाद के बीच के अंतर को स्पष्ट करने में।

## 2.3 सरकारों का परंपरागत वर्गीकरण (Traditional Classification of Governments)

राजनीति विज्ञान के जनक माने जाने वाले **अरस्तू (Aristotle)** का वर्गीकरण परंपरागत वर्गीकरण का आधार है। हालाँकि उनसे पहले प्लेटो और हेरोडोटस ने भी प्रयास किए थे, लेकिन अरस्तू ने इसे वैज्ञानिक रूप दिया।

### 2.3.1 अरस्तू का वर्गीकरण (Aristotle's Classification)

अरस्तू ने अपने समय के 158 संविधानों का अध्ययन किया और दो आधारों पर सरकारों को बांटा:

1. **संख्या का आधार:** शासन करने वाले लोगों की संख्या कितनी है? (एक, कुछ, या अनेक)
2. **उद्देश्य का आधार:** शासन का उद्देश्य क्या है? (जनहित या स्वहित)

अरस्तू का मानना था कि हर शासन का एक 'शुद्ध रूप' (Normal/Pure Form) होता है और जब वह भ्रष्ट हो जाता है तो उसका 'विकृत रूप' (Perverted Form) सामने आता है।

**अरस्तू का वर्गीकरण**

| **शासन करने वालों की संख्या** | **शुद्ध रूप (जनहित में)** | **विकृत रूप (स्वहित में)** |
|---|---|---|
| **एक व्यक्ति का शासन** | राजतंत्र (Monarchy) | आततायी शासन / निरंकुश तंत्र (Tyranny) |
| **कुछ व्यक्तियों का शासन** | कुलीन तंत्र (Aristocracy) | गुट तंत्र / धनिक तंत्र (Oligarchy) |
| **अनेक व्यक्तियों का शासन** | पॉलिटी (Polity - संवैधानिक प्रजातंत्र) | भीड़ तंत्र / लोकतंत्र (Democracy) |

अरस्तू के लिए 'डेमोक्रेसी' (Democracy) एक नकारात्मक शब्द था, जिसे वे भीड़ का शासन मानते थे। उन्होंने अच्छे शासन के लिए 'पॉलिटी' (Polity) शब्द का प्रयोग किया था, जिसमें मध्यम वर्ग का शासन होता है।

### 2.3.2 अरस्तू के वर्गीकरण का चक्रीय सिद्धांत (Cycle of Change)

अरस्तू का मानना था कि शासन व्यवस्था स्थिर नहीं रहती। यह एक पहिये की तरह घूमती है।

- पहले एक समझदार राजा आता है (राजतंत्र)।
- धीरे-धीरे वह अत्याचारी हो जाता है (निरंकुश तंत्र)।

- फिर कुछ समझदार लोग मिलकर उसे हटाते हैं (कुलीन तंत्र)।
- वे लोग भ्रष्ट होकर केवल अपना भला सोचने लगते हैं (गुट तंत्र)।
- फिर जनता विद्रोह करती है और सबका शासन आता है (पॉलिटी)।
- अंत में, व्यवस्था बिगड़ जाती है और अव्यवस्था फैल जाती है (भीड़ तंत्र)।
- इस अव्यवस्था को ठीक करने फिर एक शक्तिशाली व्यक्ति आता है, और फिर से वही चक्र शुरू होता है।

**क. राजतंत्र (Monarchy)**

अरस्तू के अनुसार, राजतंत्र शासन का वह 'शुद्ध रूप' है जिसमें सत्ता एक अकेले व्यक्ति के हाथ में होती है। लेकिन, यह केवल संख्या का प्रश्न नहीं है, बल्कि 'गुण' का प्रश्न है। अरस्तू का राजा कोई साधारण शासक नहीं, बल्कि एक ऐसा व्यक्ति है जो गुणों, बुद्धि और नैतिकता में समाज के अन्य सभी लोगों से श्रेष्ठ है।

अरस्तू इसे शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप मानते थे। उनके अनुसार, जब एक ऐसा व्यक्ति शासन करता है जो कानून का पालन करता है और जिसका एकमात्र उद्देश्य प्रजा का कल्याण (जनहित) है, तो वह राज्य सबसे सुखी होता है। इसे एक "पिता और परिवार" के रिश्ते की तरह देखा जा सकता है, जहाँ राजा पिता की भूमिका में होता है और प्रजा उसकी संतान। इस व्यवस्था में निर्णय लेने में देरी नहीं होती और शासन में एकता बनी रहती है।

हालांकि, अरस्तू यह भी स्वीकार करते हैं कि व्यवहार में ऐसा 'आदर्श राजा' मिलना अत्यंत दुर्लभ है। यदि ऐसा व्यक्ति मिल भी जाए, तो यह सुनिश्चित करना कठिन है कि उसका उत्तराधिकारी भी उतना ही गुणवान होगा।

**ख. निरंकुश तंत्र या आततायी शासन (Tyranny)**

जब राजतंत्र भ्रष्ट हो जाता है, तो वह निरंकुश तंत्र या 'टायरेनी' में बदल जाता है। अरस्तू के अनुसार यह राजतंत्र का 'विकृत रूप' है। यहाँ भी शासन एक ही व्यक्ति के हाथ में होता है, लेकिन उसका उद्देश्य बदल जाता है।

निरंकुश शासक कानून को नहीं मानता, वह अपनी मनमर्जी चलाता है। उसका उद्देश्य प्रजा का कल्याण नहीं, बल्कि अपना स्वार्थ सिद्ध करना, अपनी तिजोरियां भरना और अपनी शक्ति बढ़ाना होता है। वह जनता को डराकर और बल प्रयोग करके शासन करता है। अरस्तू इसे शासन का सबसे बुरा रूप मानते हैं क्योंकि इसमें जनता गुलामों की तरह जीती है। इसमें न तो स्वतंत्रता होती है और न ही न्याय। यह व्यवस्था तब जन्म लेती है जब राजा अपने कर्तव्यों को भूलकर विलासी और क्रूर हो जाता है।

**ग. कुलीन तंत्र (Aristocracy)**

कुलीन तंत्र 'श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासन' है। अरस्तू के वर्गीकरण में यह 'कुछ व्यक्तियों' के शासन का शुद्ध रूप है। यहाँ सत्ता समाज के गिने-चुने लोगों के हाथ में होती है। लेकिन ये लोग धन या बाहुबल के आधार पर नहीं चुने जाते, बल्कि अपनी विद्वता, अनुभव और नैतिक गुणों के आधार पर शासन करते हैं।

इस व्यवस्था का मूल आधार यह है कि समाज के सबसे बुद्धिमान लोग ही शासन करने के लिए सबसे उपयुक्त होते हैं। वे कानून का सम्मान करते हैं और सामान्य जनता की भलाई के लिए कार्य करते हैं। अरस्तू राजतंत्र के बाद इसे दूसरा सबसे अच्छा शासन मानते थे। इसमें एक व्यक्ति की मनमानी का डर कम होता है क्योंकि शासक समूह में विचार-विमर्श करके निर्णय लेते हैं।

**घ. गुट तंत्र या धनिक तंत्र (Oligarchy)**

जब कुलीन तंत्र के शासक भ्रष्ट हो जाते हैं, तो यह व्यवस्था गुट तंत्र में बदल जाती है। यह 'कुछ व्यक्तियों' के शासन का विकृत रूप है। यहाँ सत्ता गुणवानों के हाथ से निकलकर धनवानों के हाथ में चली जाती है।

इस व्यवस्था में शासन का उद्देश्य जनहित नहीं होता, बल्कि अमीर शासक और अमीर बनने के लिए कानूनों का दुरुपयोग करते हैं। वे गरीबों का शोषण करते हैं। अरस्तू कहते हैं कि यहाँ पद और प्रतिष्ठा का आधार केवल 'पैसा' होता है, योग्यता नहीं। यह एक अस्थिर शासन है क्योंकि इसमें शासकों के बीच आपस में ही ईर्ष्या और झगड़े होते रहते हैं, और जनता इनके विरुद्ध जल्दी ही विद्रोह कर देती है।

**च. पॉलिटी (Polity)**

अरस्तू के अनुसार, यह 'अनेक व्यक्तियों' के शासन का शुद्ध रूप है। आधुनिक समय में हम जिसे 'लोकतंत्र' कहते हैं और अच्छा मानते हैं, अरस्तू ने उसे 'पॉलिटी' कहा था।

पॉलिटी में शासन की बागडोर मध्यम वर्ग (Middle Class) के हाथ में होती है। अरस्तू का मानना था कि बहुत अमीर लोग घमंडी होते हैं और बहुत गरीब लोग कुंठित होते हैं, लेकिन मध्यम वर्ग संतुलित होता है। यह शासन 'कानून के शासन' (Rule of Law) पर आधारित होता है। इसमें न तो अमीरों की मनमानी चलती है और न ही गरीबों की भीड़ का शोर। यह स्थिरता और संतुलन का प्रतीक है। अरस्तू ने व्यावहारिक रूप से इसे अधिकांश राज्यों के लिए 'सर्वश्रेष्ठ व्यवहार्य शासन' (Best Practicable State) माना है, क्योंकि आदर्श राजतंत्र मिलना मुश्किल है।

**छ. लोकतंत्र या भीड़ तंत्र (Democracy)**

यह सुनकर हैरानी होती है, लेकिन अरस्तू 'डेमोक्रेसी' को शासन का एक 'विकृत रूप' मानते थे। उनके अनुसार, जब पॉलिटी बिगड़ जाती है, तो वह डेमोक्रेसी बन जाती है।

अरस्तू के लिए डेमोक्रेसी का अर्थ था- "गरीबों, अज्ञानी और भीड़ का शासन"। उनका मानना था कि जब शासन बहुत सारे लोगों के हाथ में आ जाता है और वे कानून को ताक पर रखकर मनमानी करने लगते हैं, तो अव्यवस्था फैल जाती है। इसमें स्वतंत्रता का अर्थ 'मनमानी' मान लिया जाता है। योग्य व्यक्तियों का सम्मान नहीं होता और फैसले भावनाओं में बहकर लिए जाते हैं, तर्क से नहीं। अरस्तू इसे "भीड़ तंत्र" कहते थे जहाँ कोई भी नेता (डेमागॉग) जनता को भड़काकर सत्ता हथिया सकता है।

अरस्तू की सरकार की धारणा आधुनिक सरकार की धारणाओं से अधिक व्यापक है। अरस्तू 'सरकार' को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। सरकार का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है। सरकार को परिभाषित करते हुए अरस्तू लिखता है कि ''सरकार सामान्यतः राज्य में पदो के संगठन की एक व्यवस्था है, विशेषतः ऐसे पद की सभी मुद्रों में सर्वोच्च हैं।''

सरकार का वर्गीकरणः- अरस्तू ने सरकार के दो वर्गीकरण को मान्यता दी है। (1) शासकों की संख्या जिनके हाथो में शासन की सत्ता रहती है, (2) शासन का उद्देश्य क्या है? पहले आधार पर संविधान का वर्गीकरण करते हुए अरस्तू बताता है कि शासन की सत्ता एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्ति के शासन को राजतंत्र थोड़े व्यक्तियों के शासन को 'अल्पतन्त्र' तथा अधिक लोगों के शासन को 'पालिटी' कहता है। सरकार के इन तीनों प्रकारों को आधार 'शासकों की संस्था' है।

किन्तु अरस्तू इस आधार को आकास्मिक मानता है। वर्गीकरण का वास्तविक आधार शासकों को उद्देश्य क्या है? को मानता है। शासन यदि भले ही एक व्यक्ति थोड़ से व्यक्ति अथवा अधिक व्यक्तियों का हो, सार्वजनिक हित से प्ररित होकर कार्यशील है, अरस्तू उसे 'सरकार ' मानता है। निजी स्वार्थ से प्ररित होकर किया गया शासन कभी ठीक नहीं हो सकता। अरस्तू ऐसे सरकार को विकृत संविधान की संज्ञा देता है। तद्नुसार सामान्य हित से प्ररित एक व्यक्ति के शासन को अरस्तू 'राजतन्त्र' थोड़े से व्यक्तियों के शासन को 'अल्पतन्त्र' तथा अधिक लोगों के शासन को पॉलिटी अर्थात 'संयत लोकतन्त्र' बताता है। दूसरी कोटी 'विकृत संविधानों की है।' जब शासक 'निजी हित' से प्रेरित होकर शासन करते है तब तक एक व्यक्ति विकृत शासन निरंकुशतन्त्र, थोड़े से व्यक्तियों का विकृत शासन 'धनिकतन्त्र' और अधिक लोगों का अधिक निर्धन लोगों के हितार्थ विकृत शासन लोकतन्त्र कहलाता है।

**शुद्ध शासन -** ''सार्वजनिक हित'' में किये जाने वाला शासन 'सही' अथवा शुद्ध है। यह शासन जब एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है उसे अरस्तू ''राजतन्त्र'' कहता है। कुछ व्यतियों द्वारा किया गया 'शुद्ध' शासन अल्पतन्त्र है तथा अधिक संख्यकों द्वारा सार्वजनिक हितार्थ किया गया शासन पॉलिटी है। इस आधार पर शुद्ध संविधान के ये तीन प्रकार है- राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तथा पॉलिटी।

**विकृत शासन -** शासन निजी स्वार्थों की पूर्ति के समय-समय पर विकृत रूप धारण कर लेते है। इस प्रकार राजतन्त्र का विकृत रूप निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र का विकृत रूप धनिकतन्त्र तथा सयंत लोकतन्त्र (पॉलिटी) का विकृत रूप

भीड़तंत्र का अर्थात लोकतन्त्र हो जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कह जा सकता है कि अरस्तू ने कुल 6 प्रकार के शासनों का वर्णन किया है जिनमें अपने उद्देश्य के अनुसार तीन शुद्ध तथा तीन विकृत प्रकार हैं।

## 2.4 परंपरागत वर्गीकरण की आलोचना

1. **पुराना दृष्टिकोण:** यह नगर-राज्यों (City-states) के लिए था, आज के विशाल राष्ट्र-राज्यों (Nation-states) पर यह पूरी तरह लागू नहीं होता है ।
2. **लोकतंत्र की गलत धारणा:** आज 'डेमोक्रेसी' सबसे अच्छा शासन माना जाता है, जबकि अरस्तू इसे बुरा मानते थे।
3. **मिश्रित प्रणालियों का अभाव:** आधुनिक सरकारें बहुत जटिल हैं, जिन्हें केवल संख्या के आधार पर नहीं बांटा जा सकता है।

### 2.4 .1 अरस्तू के शासन वर्गीकरण की आलोचना: जेम्स विलफोर्ड गार्नर के दृष्टिकोण से

अरस्तू ने अपनी कृति पॉलिटिक्स में शासनों का वर्गीकरण संख्या (एक, कुछ या अनेक शासक) और उद्देश्य (सामान्य हित या स्वार्थ) के आधार पर किया था। उन्होंने छह प्रकार बताए: तीन 'उचित' और तीन 'भ्रष्ट')। यह वर्गीकरण प्राचीन यूनानी संदर्भों में प्रभावशाली रहा, लेकिन आधुनिक राजनीति विज्ञान में इसकी कई आलोचनाएं हुई हैं। जेम्स विलफोर्ड गार्नर, जो एक प्रमुख अमेरिकी राजनीति वैज्ञानिक थे, उन्होंने अपनी पुस्तक "इंट्रोडक्शन टू पॉलिटिकल साइंस" में इसकी विस्तृत समीक्षा की है। गार्नर के अनुसार, यह वर्गीकरण दार्शनिक और आदर्शवादी है, लेकिन वैज्ञानिक रूप से अपरिपक्व है ।

#### 1. वैज्ञानिक आधार की कमी

गार्नर का मुख्य तर्क है कि अरस्तू का वर्गीकरण किसी सुसंगत सिद्धांत या अनुभवजन्य (empirical) अध्ययन पर आधारित नहीं है। यह प्राचीन यूनानी अवलोकनों और दार्शनिक आदर्शों (जैसे 'सामान्य हित' बनाम 'स्वार्थ') पर टिका है, जो आधुनिक जटिलताओं को नजरअंदाज करता है।

अरस्तू ने शासनों को वर्गीकृत करने के लिए कोई एकल सिद्धांत नहीं अपनाया, बल्कि विविध ऐतिहासिक उदाहरणों (जैसे एथेंस, स्पार्टा) पर निर्भर किया। गार्नर इसे 'साहित्यिक/ऐतिहासिक' दृष्टिकोण मानते हैं, न कि वैज्ञानिक। उदाहरणस्वरूप, आधुनिक आर्थिक एकीकरण, औद्योगिक आवश्यकताओं या संघीय ढांचों को यह समझ नहीं पाता है । गार्नर कहते हैं कि यह वर्गीकरण 'राजनीति विज्ञान के लिए कम महत्वपूर्ण' हो गया है, क्योंकि यह वर्णनात्मक है, विश्लेषणात्मक नहीं है ।

**2. असंगति और मनमानी**

गार्नर के अनुसार, यह वर्गीकरण असंगत है क्योंकि यह भिन्न-भिन्न शासनों को एक ही श्रेणी में ठूंस देता है, बिना संरचनात्मक अंतरों पर विचार किए। उदाहरण के लिए, ग्रेट ब्रिटेन, प्रशिया, रूस और तुर्की को 'राजतंत्रात्मक' कहा जाता है, जबकि फ्रांस और अमेरिका को अलग श्रेणी में रखा जाता है—यह संरचनात्मक भिन्नताओं को अनदेखा करता है। 'उचित' और 'भ्रष्ट' रूपों के बीच की रेखा धुंधली है; जैसे पॉलिटी (ओलिगार्की और डेमोक्रेसी का मिश्रण) को आदर्श बताया गया, लेकिन डेमोक्रेसी को नकारात्मक। गार्नर इसे 'अच्छा-बुरा' की द्वंद्वात्मक सोच मानते हैं, जो मध्यवर्ती रूपों (जैसे प्रतिनिधि लोकतंत्र) को नजरअंदाज करती है। वे जॉन स्टुअर्ट मिल या डी टोकविले जैसे आधुनिक विचारकों का हवाला देते हैं, जो डेमोक्रेसी की सूक्ष्मताओं को रेखांकित करते हैं। इसके अलावा, 'मिश्रित राज्य' (mixed states) अवधारणा अमान्य है, क्योंकि राज्य एक इकाई है—सार्वभौमिकता (sovereignty) साझा नहीं हो सकती।

**3. महत्वपूर्ण अंतरों का अभाव**

गार्नर तर्क देते हैं कि अरस्तू ने शासन की आंतरिक संरचना, प्रक्रियाओं या शक्तियों के विभाजन को अलग-अलग नहीं किया, जो आधुनिक विश्लेषण के लिए आवश्यक है। उदाहरणस्वरूप, विधायी (नीति-निर्माण), कार्यकारी (निष्पादन) और न्यायिक (कानून व्याख्या) शक्तियों को प्राचीन एथेंस जैसे उदाहरणों में मिश्रित दिखाया गया, लेकिन आधुनिक पृथक्करण (separation of powers) को अनदेखा किया। गार्नर सुझाव देते हैं कि आधुनिक वर्गीकरण अधिकारीयों की अवधि, विधायिका-कार्यपालिका संबंधों या शक्ति के संकेंद्रण पर आधारित होने चाहिए।

गार्नर का नजरिया है कि अरस्तू का वर्गीकरण प्राचीन संदर्भों के लिए उपयोगी था, लेकिन आधुनिक राजनीति विज्ञान के लिए अप्रासंगिक हो गया है। यह अनुभवजन्य सिद्धांतों की बजाय आदर्शवाद पर टिका है, जो जटिल आधुनिक राज्यों को समझाने में असफल रहता है। गार्नर अनुशंसा करते हैं कि वर्गीकरण को ऐतिहासिक, सामाजिक और कार्यात्मक सिद्धांतों पर पुनर्निर्मित किया जाए।

## 2.5 सरकारों का आधुनिक वर्गीकरण (Modern Classification of Governments)

अरस्तु के वर्गीकरण ने बाद के वर्गीकरण कि योजनाओं को प्रभावित किया ।पोलिबियस ने भी अरस्तु की तरह ही शासनतंत्र का वर्गीकरण किया । पोलिबियास के बाद सिसरो, मेकियावाली, बोंदा, हाब्स, लॉक, रूसो, माउंट्सक्यु, जेलिनेक, वेट्ज आदि ने सरकारों का वर्गीकरण किया ।

### 2.5.0 मोन्टेस्क्यू का शासन वर्गीकरण: मुख्य आधार

मोन्टेस्क्यू ने शासनों को तीन मुख्य प्रकारों में वर्गीकृत किया: गणतंत्र (Republic), राजतंत्र (Monarchy), और निरंकुशता (Despotism)। यह वर्गीकरण न केवल शासक की संख्या पर आधारित था, बल्कि शासन के 'सिद्धांत' और बाहरी कारकों (जैसे जलवायु, भूभाग, नैतिकता) पर भी आधारित था।

मोन्टेस्क्यू का गणतंत्र दो उप-प्रकारों में विभाजित है—लोकतांत्रिक (Democracy, जहां जनता शासक) और अभिजात्य (Aristocracy, जहां अभिजात वर्ग शासक)। मोन्टेस्क्यू के अनुसार, यह छोटे भूभाग वाले राज्यों (जैसे प्राचीन ग्रीस या रोम) के लिए उपयुक्त है, क्योंकि बड़े राज्य में जनता का नियंत्रण असंभव हो जाता है।

राजतंत्र: यहां शासक (राजा) कानूनों द्वारा बंधा होता है, यह मध्यम आकार के राज्यों (जैसे फ्रांस) के लिए आदर्श है, जहां आर्थिक समानता और वाणिज्य फलते-फूलते हैं।

निरंकुशता: यह भ्रष्ट शासन है, जहां शासक भय पर आधारित पूर्ण शक्ति रखता है। इसका सिद्धांत 'भय' है, और यह बड़े साम्राज्यों (जैसे तुर्की या एशियाई साम्राज्य) के लिए स्वाभाविक माना गया, लेकिन मोन्टेस्क्यू इसे अनैतिक और अस्थिर मानते थे।

मोन्टेस्क्यू का मानना था कि गणतंत्र से राजतंत्र की ओर संक्रमण मुक्ति (liberty) की ओर ले जाता है, जबकि निरंकुशता की ओर अग्रसर होना शासन की निम्नता (degeneration) और समाज की विषमता की ओर बढ़ना है। उन्होंने भूगोल को महत्वपूर्ण माना बड़े भूभाग वाले राज्य निरंकुश होते हैं, जबकि छोटे गणतांत्रिक। शिक्षा, नैतिकता, देशभक्ति और आर्थिक कारक (जैसे वाणिज्य) शासन को प्रभावित करते हैं। उदाहरणस्वरूप, वे बड़े राज्यों के लिए गणतंत्र को अव्यावहारिक मानते थे, क्योंकि कम भूभाग की अनिवार्यता आधुनिक विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त है। निरंकुशता का वे विरोधी थे, क्योंकि इसमें धन, वाणिज्य और उद्योग खतरे में रहते हैं, तथा प्रजा की दशा दयनीय हो जाती है। इसलिए, वे राजतंत्र को आधुनिक राज्यों के लिए सबसे व्यावहारिक मानते थे, क्योंकि इसकी 'जमी हुई जड़ें' इसकी उपयोगिता सिद्ध करती हैं। उन्होंने राजतंत्र की 'आंधी' से तुलना करते हुए भी इसे आधुनिक समय का एकमात्र व्यावहारिक रूप माना।

### अरस्तू के वर्गीकरण से तुलना एवं मोन्टेस्क्यू की आलोचना

मोन्टेस्क्यू ने अरस्तू के वर्गीकरण को अपनाया, लेकिन इसे विस्तार दिया। अरस्तू संख्या और उद्देश्य (सामान्य हित बनाम स्वार्थ) पर केंद्रित थे, जबकि मोन्टेस्क्यू ने पर्यावरणीय और सांस्कृतिक कारकों को जोड़ा। हालांकि, आलोचना यह है कि मोन्टेस्क्यू अरस्तू की भांति शासनों को 'अच्छे-बुरे' के द्वंद्व में बांधते हैं, जो कठोर (rigid) है।

मोन्टेस्क्यू का योगदान शक्ति पृथक्करण (separation of powers) का सिद्धांत है, जो विधायी, कार्यकारी और न्यायिक शक्तियों को अलग रखने पर जोर देता है। यह आधुनिक संविधानों (जैसे अमेरिकी) की नींव है।

प्रथम विश्व युद्ध और विशेष रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, राजनीतिक व्यवस्थाएं बहुत बदल गईं। अब केवल "कितने लोग शासन कर रहे हैं" यह महत्वपूर्ण नहीं रहा, बल्कि यह महत्वपूर्ण हो गया कि "संस्थाएं आपस में कैसे जुड़ी हैं"।

आधुनिक वर्गीकरण के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं:

### 2.5.1 शक्ति के विभाजन के आधार पर: एकात्मक एवं संघात्मक (Based on Division of Power: Unitary and Federal)

यह वर्गीकरण इस बात पर निर्भर करता है कि संविधान ने शक्तियाँ केंद्र सरकार और राज्य सरकारों के बीच कैसे बांटी हैं। इस आधर पर दो प्रकार की सरकारें आती है एकात्मक और संघात्मक सरकार। राज्य शक्ति के एक स्थान पर केंद्रित होने या अनेक स्थानों के बीच वितरित होने का आधार भी वर्गीकरण में बहुत प्रचलित रहा है। इस आधार पर जिन राज्यों में राज्य-शक्ति एक केन्द्रीय स्थान पर केन्द्रित होती है. उन्हें एकात्मक तथा जिन राज्यों में राज्य शक्ति राज्य की इकाइयों में वितरित होती है. उन्हें संघात्मक राज्य कहा जाता है। इस आधार पर भी राज्यों का वर्गीकरण संतोषप्रद नहीं रह गया है। अधिकांश राज्य ऐसे हैं जहां शक्तियों के केन्द्रीयकरण तथा इकाइयों के बीच वितरण का कोई सुनिश्चित प्रतिमान नहीं है। उदाहरण भारत का राज्य उस आधार पर संघात्मक है या एकात्मक, इसकी लेकर विद्वान एकमत नहीं है। के० सी० व्हीयर ने तो इसे न संघात्मक माना है और न ही एकात्मक संघात्मक' इसे अर्ध-संघात्मक का नाम दिया है। इस आधार पर वर्गीकरण, उन राज्यों के सम्बन्ध में और भी कठिन हो जाता है जिनमें संवैधानिक व्यवस्था और व्यावहारिक व्यवस्था बहुत भिन्न होती है। रूस का संविधान सैद्धान्तिक दृष्टि से संघात्मक की श्रेणी में तथा एकात्मक प्रवर्ग में रखा जाता है। अतः शक्तियों के केन्द्रीयकरण या वितरण का आधार भी सरकारों के वर्गीकरण का सुस्पष्ट आधार नहीं रह गया है।

**a. एकात्मक सरकार (Unitary Government)**

इस व्यवस्था में संविधान द्वारा सारी शक्तियाँ केंद्र सरकार (Central Government) के पास होती हैं। राज्य या प्रांतीय सरकारें हो सकती हैं, लेकिन वे केंद्र के एजेंट के रूप में काम करती हैं। केंद्र जब चाहे उनसे शक्तियाँ वापस ले सकता है। ब्रिटेन, चीन, फ्रांस में एकात्मक सरकार है। इस शासन प्रणाली का लाभ यह है कि निर्णय जल्दी लिए जाते हैं, पूरे देश में एक कानून होता है। वहीँ इसका नुकसान यह है कि यह प्रणाली बड़े-बड़े देशों के लिए अनुपयुक्त है और यहाँ तानाशाही का डर भी बना रहता है।

**एकात्मक सरकार के गुण :**

1. **शक्तिशाली शासन:** चूँकि सारी शक्तियाँ केंद्र के पास होती हैं, सरकार कठिन समय में (जैसे युद्ध या महामारी) बिना किसी देरी के कड़े फैसले ले सकती है।

2. **एकरूपता (Uniformity):** पूरे देश में एक ही कानून, एक ही नीति और एक ही प्रशासन चलता है। इससे जनता में भ्रम नहीं होता।
3. **कम खर्चीली:** इसमें दोहरी सरकारें (केंद्र और राज्य) नहीं होतीं, इसलिए प्रशासन का खर्च कम होता है। गरीब और छोटे देशों के लिए यह आदर्श है।
4. **संघर्ष की अनुपस्थिति:** केंद्र और राज्यों के बीच शक्तियों को लेकर कोई झगड़ा नहीं होता, क्योंकि राज्य केंद्र के अधीन होते हैं।
5. **लचीलापन:** संविधान में संशोधन करना आसान होता है, इसलिए बदलती परिस्थितियों के अनुसार शासन को बदला जा सकता है।

**एकात्मक सरकार दोष (Demerits):**

1. **केंद्रीय तानाशाही का भय:** जब सारी शक्ति एक जगह जमा हो जाती है, तो केंद्र सरकार के निरंकुश होने का खतरा बढ़ जाता है।
2. **स्थानीय हितों की उपेक्षा:** केंद्र में बैठे अधिकारी दूर-दराज के गावों की समस्याओं को ठीक से नहीं समझ पाते ऐसे में स्थानीय हितों की उपेक्षा होने की संभावना बनी रहती है।
3. **बड़े देशों के लिए अनुपयुक्त:** भारत या अमेरिका जैसे विशाल और विविधतापूर्ण देशों में एक ही जगह से शासन चलाना संभव नहीं है। तो यह प्रणाली बड़े देशों के लिए सही नहीं है।
4. **नौकरशाही का दबदबा:** शासन पूरी तरह से सरकारी अधिकारियों (Bureaucracy) पर निर्भर हो जाता है, जिससे लालफीताशाही बढ़ती है।
5. **जनता की कम भागीदारी:** स्थानीय स्तर पर जनता को शासन में भाग लेने का मौका कम मिलता है, जिससे उनकी राजनीतिक रूचि कम हो जाती है।

**b. संघात्मक सरकार (Federal Government)**

इस व्यवस्था में संविधान शक्तियों को केंद्र और राज्यों के बीच स्पष्ट रूप से बांट देता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र होते हैं। केंद्र सरकार राज्यों की शक्तियों को मनमर्जी से छीन नहीं सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत (अर्ध-

संघात्मक) और कनाडा में संघात्मक सरकार है। यह शासन प्रणाली बड़े देशों के लिए उपयुक्त है , इसमें क्षेत्रीय स्वायत्तता बनी रहती है।

**संघात्मक सरकार गुण (Merits):**

1. **राष्ट्रीय एकता और स्थानीय स्वायत्तता:** यह प्रणाली 'विविधता में एकता' को साधती है। रक्षा और विदेश नीति केंद्र के पास होती है, जबकि स्थानीय मुद्दे राज्यों के पास होते हैं ।
2. **निरंकुशता पर रोक:** शक्तियों का विभाजन होने के कारण कोई भी एक सरकार (केंद्र या राज्य) तानाशाही नहीं कर सकती है।
3. **विशाल देशों के लिए आदर्श:** बड़े भू-भाग और अलग-अलग भाषा-संस्कृति वाले देशों (जैसे भारत, अमेरिका) के लिए यही एकमात्र व्यावहारिक विकल्प है।
4. **राजनीतिक चेतना:** प्रांतीय सरकारों के कारण अधिक लोगों को राजनीति और प्रशासन में भाग लेने का मौका मिलता है।
5. **प्रयोगशाला के रूप में राज्य:** नए कानूनों या नीतियों को पहले एक राज्य में लागू करके देखा जा सकता है, सफल होने पर पूरे देश में लागू किया जा सकता है।

**संघात्मक सरकार दोष (Demerits):**

1. **कमजोर शासन:** शक्तियों के बंटवारे के कारण केंद्र सरकार कभी-कभी कमजोर हो जाती है, जो विदेश नीति और रक्षा के लिए खतरनाक हो सकता है।
2. **खर्चीली व्यवस्था:** दोहरी सरकार, दोहरी संसद और दोहरे प्रशासन के कारण यह व्यवस्था बहुत महंगी पड़ती है।
3. **विवादों की संभावना:** केंद्र और राज्यों के बीच अक्सर अधिकारों, नदी जल या धन के बंटवारे को लेकर झगड़े होते रहते हैं।
4. **निर्णय में देरी:** संकटकाल में राज्यों से सहमति लेने की प्रक्रिया के कारण निर्णय लेने में देरी हो सकती है।
5. **अलगाववाद का खतरा:** यदि राज्य बहुत शक्तिशाली हो जाएं, तो वे देश से अलग होने की मांग कर सकते हैं ।

## 2.5.2 कार्यपालिका और विधायिका के संबंधों के आधार पर: संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक (Based on Relation between Executive and Legislature: Parliamentary and Presidential)

सरकारों के विभिन्न अंगों के पारस्परिक संबंधों के आधार पर वर्गीकरण की परंपरा काफी प्रचलित है यह वर्गीकरण आधुनिक लोकतंत्रों में सबसे महत्वपूर्ण है। किसी शासन व्यवस्था में कार्यपालिका व् वावास्थापिका के सम्बन्ध के आधार पर सरकारों को संसदीय व अध्यक्षात्मक प्रणालियों में वर्गीकृत किया जाता है।

**a. संसदात्मक शासन (Parliamentary System)**

संसदीय शासन प्रणाली एक लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था है जिसमें कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है। इस प्रणाली में सरकार का प्रमुख (जैसे प्रधानमंत्री) संसद के सदस्यों द्वारा चुना जाता है और संसद ही सरकार को नियंत्रित करती है। यह प्रणाली ब्रिटेन से उत्पन्न हुई है और कई देशों में अपनाई गई है। इसमें कार्यपालिका (प्रधानमन्त्री और मंत्री) अपनी वैधता और शक्ति विधायिका (संसद) से प्राप्त करती है। कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। अगर संसद में बहुमत खो जाए, तो सरकार गिर जाती है। इसमें राष्ट्र का प्रमुख (जैसे राष्ट्रपति या राजा) नाममात्र का होता है, जबकि असली शक्ति प्रधानमंत्री के पास होती है। भारत, ब्रिटेन, जापान संसदात्मक शासन प्रणाली का उदहारण है।

**संसदात्मक शासन गुण (Merits):**

1. **कार्यपालिका और विधायिका में सहयोग:** मंत्री संसद के ही सदस्य होते हैं, इसलिए कानून बनवाने और लागू करने में झगड़ा नहीं होता। सहयोग बना रहता है।
2. **उत्तरदायी सरकार:** मंत्री अपने हर काम के लिए संसद (और जनता) के प्रति जवाबदेह होते हैं। प्रश्नकाल और अविश्वास प्रस्ताव के जरिए उन पर लगाम कसी जाती है।
3. **लचीलापन:** आवश्यकता पड़ने पर (जैसे युद्ध या आपातकाल में) नेतृत्व को आसानी से बदला जा सकता है।
4. **राजनीतिक शिक्षा:** संसद में होने वाली बहसों से जनता को देश की समस्याओं और नीतियों की जानकारी मिलती है।
5. **तानाशाही संभव नहीं:** प्रधानमंत्री अकेले निर्णय नहीं ले सकता, उसे कैबिनेट और संसद को साथ लेकर चलना पड़ता है।

**संसदात्मक शासन दोष (Demerits):**

1. **अस्थिर सरकार:** यदि किसी एक पार्टी को बहुमत न मिले, तो सरकार कभी भी गिर सकती है। यह दीर्घकालिक नीतियों के लिए बुरा है।
2. **शक्ति पृथक्करण का अभाव:** कार्यपालिका और विधायिका मिली हुई होती हैं, जो शक्ति पृथक्करण ' के सिद्धांत के खिलाफ हो सकता है।
3. **अयोग्य व्यक्तियों का शासन:** मंत्री बनने के लिए विशेषज्ञ होना जरूरी नहीं, बस चुनाव जीतना जरूरी है। कई बार योग्य लोग महत्वपूर्ण विभाग संभालने लगते हैं।
4. **संकटकाल के लिए अनुपयुक्त:** निर्णय लेने में बहुत बहस और चर्चा होती है, जिससे आपातकाल में देरी हो सकती है।
5. **दलगत राजनीति (Party Spirit):** सरकार हमेशा अपनी पार्टी के हित के बारे में सोचती है, कई बार राष्ट्रीय हित पीछे छूट जाते हैं।

**b. अध्यक्षात्मक शासन (Presidential System)**

इसमें कार्यपालिका और विधायिका एक-दूसरे से स्वतंत्र होती हैं। राष्ट्रपति का चुनाव सीधे जनता (या इलेक्टोरल कॉलेज) द्वारा होता है और वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है। इसमें शक्तियों का स्पष्ट पृथक्करण (Separation of Powers)होता है । राष्ट्रपति एक निश्चित कार्यकाल के लिए चुना जाता है और उसे आसानी से हटाया नहीं जा सकता है । **उदाहरण:** संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्राज़ील।

**अध्यक्षात्मक शासन गुण (Merits):**

1. **स्थिरता:** राष्ट्रपति एक निश्चित कार्यकाल (जैसे अमेरिका में 4 साल) के लिए चुना जाता है। उसे आसानी से हटाया नहीं जा सकता, जिससे नीतियां स्थिर रहती हैं।
2. **विशेषज्ञों का शासन:** राष्ट्रपति अपनी मर्जी से मंत्रियों को चुनता है। वे सांसद नहीं होते, इसलिए वह विषय विशेषज्ञों को मंत्री बना सकता है।
3. **संकटकाल के लिए सर्वोत्तम:** राष्ट्रपति के पास निर्णय लेने की पूरी शक्ति होती है, उसे किसी से पूछने की जरूरत नहीं, इसलिए त्वरित कार्यवाही होती है।

4. **शक्ति पृथक्करण:** इसमें कानून बनाने वाले और शासन करने वाले अलग-अलग होते हैं, जिससे नागरिकों की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती है।
5. **दलगत राजनीति कम:** चुनाव के बाद राष्ट्रपति पार्टी राजनीति से ऊपर उठकर काम कर सकता है क्योंकि उसे रोज संसद में बहुमत सिद्ध नहीं करना होता।

**अध्यक्षात्मक शासन दोष (Demerits):**

1. **निरंकुशता का खतरा:** राष्ट्रपति को हटाना बहुत मुश्किल (महाभियोग) होता है, इसलिए वह तानाशाह की तरह व्यवहार कर सकता है।
2. **विधायिका से टकराव:** यदि राष्ट्रपति और संसद (कांग्रेस) अलग-अलग पार्टियों के हों, तो गतिरोध (Deadlock) पैदा हो जाता है और काम रुक जाता है।
3. **लचीलेपन का अभाव:** अगर राष्ट्रपति अयोग्य साबित हो जाए, तो भी उसे कार्यकाल पूरा होने तक झेलना पड़ता है।
4. **उत्तरदायित्व की कमी:** राष्ट्रपति सीधे तौर पर विधायिका के प्रति जवाबदेह नहीं होता, इसलिए वह मनमानी कर सकता है।
5. **विदेश नीति में अनिश्चितता:** कई बार राष्ट्रपति कोई समझौता करता है, लेकिन संसद उसे पास करने से मना कर देती है (जैसे अमेरिका में होता है)।

## 2.5.3 वैधता और विचारधारा के आधार पर: लोकतांत्रिक एवं सर्वाधिकारवादी (Based on Legitimacy and Ideology: Democratic and Totalitarian)

**a.** लोकतंत्र (Democracy)लोकतंत्र की अवधारणा प्राचीन यूनान, विशेष रूप से एथेंस, में अपनी जड़ें रखती है, जहां प्रत्यक्ष लोकतंत्र का प्रारंभिक रूप विकसित हुआ। प्लेटो ने रिपब्लिक (पुस्तक VIII) में लोकतंत्र की आलोचना करते हुए इसे भीड़तंत्र )mob rule) के रूप में देखा जो अराजकता और अनुशासनहीनता को बढ़ावा देता है। उनके अनुसार, लोकतंत्र दार्शनिक शासकों के अभाव में समाज को अस्थिर करता है। दूसरी ओर, अरस्तू ने पॉलिटिक्स (पुस्तक IV) में लोकतंत्र को शासन के एक रूप के रूप में विश्लेषित किया, जो सामान्य जनता के हितों को प्राथमिकता देता है, लेकिन इसे मध्यम वर्ग के संतुलन के साथ संयमित करने की आवश्यकता पर बल दिया। प्राचीन एथेंस में केवल पुरुष नागरिक ही मतदान कर सकते थे, जो आधुनिक लोकतंत्र की समावेशी प्रकृति से भिन्न है। मध्ययुग में, लोकतंत्र की अवधारणा कहीं पीछे छुट गयी, लेकिन पुनर्जागरण और प्रबोधन काल ने इसे पुनर्जीवित किया। 17 वीं और 18वीं

सदी में, सामाजिक अनुबंध सिद्धांत ने आधुनिक लोकतंत्र की नींव रखी। आधुनिक लोकतंत्र प्रतिनिधि शासन, संवैधानिकता, और मौलिक अधिकारों पर आधारित हैं।

यह "जनता का, जनता के लिए और जनता द्वारा" शासन है। इसमें स्वतंत्र चुनाव, मीडिया की आज़ादी, और मौलिक अधिकार होते हैं। उदारवादी लोकतंत्र में जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता सर्वोपरि है।

पारंपरिक उदारतावादी सिद्वान्त को प्रतिष्ठित, लोकप्रिय सिद्वान्त भी कहा जाता है। यह सिद्वान्त पिछली करीब तीन शताब्दियों में विकसित हुआ और यह किसी एक दर्शन, लेखन आन्दोलन का परिणाम न होकर अमेरिका,इग्लैण्ड तथा अन्य पश्चिमी देशों के राजनीतिक आन्दोलन व्यवहार तथा चिंतन का परिणाम है। आधुनिक युग के आरम्भ के साथ ही इस सिद्वान्त का विकास देखा जा सकता है। 'पुर्न जागरण' तथा धर्मसुधार के सांस्कृतिक ताकि धार्मिक आन्दोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति को ही अपने चिंतन का केन्द्रबिन्दु स्वीकार किया। हॉब्स ने इसी आधार - पर1वी 70 शताब्दी में लोकतंत्र के महत्वपूर्ण नियम को स्पष्ट किया। हॉब्स ने कहा कि राज्य सरकार तथा अन्य मानवीय संस्थाएं व्यक्तियों के आपसी समझौते के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है। इस समय अंग्रेज विचारक जान लॉक ने इग्लैण्ड की गौरव क्रांति )1688) के अवसर पर यह विचार व्यक्त किया कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक अधिकार होते हैं जिनहे उनसे कोई नहीं छीन सकता; इनमें जीवन स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकारों के सिद्वान्त के आधार पर सरकार के खिलाफ बगावत को उचित ठहरा कर सीमित सरकार के लोकतांत्रिक सिद्वान्त को स्थापित किया।

अठारहवीं शताब्दी में व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रताओं को संरक्षण रखने के लिए तथा सरकार को निरंकुश होने से बचाने के लिए मांटेस्क्यूय ने शक्तियों के पृथकरण का सिद्वान्त दिया। रूसों ने लोकतंत्र की आत्मा के स्वरूप में 'सामान्य इच्छा' का सिद्वान्त प्रतिपादित किया। रूसों ने जनता द्वारा राजनीति में प्रत्यक्ष हिस्सा लेने को लोकतंत्र की मुख्य विशेषता माना। मैबलेदिदरों ,,हैलविशियस होलबैकविद्वानों ने व्यक्तियों की,'जन्मसिद्ध समानता' के विचार को प्रतिपादित करके लोकतंत्र को एक ओर नवीन आधारस्तम्भ प्रदान किया। अमेरिका- तथा फ्रांस की क्रान्तियों ने राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति के माध्यम से लोकतंत्र को व्यवाहारिक रूप देने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।अमेरिका के क्रान्तिकारियों जेकरसन, मेडीसन के प्रयासों से अमेरिकी संविधान उदारवादी लोकतंत्र के राजनीतिक घोषणापत्र के रूप में उभरकार सामने आया। आर्थिक स्तर पर एडम स्मिथ, रिकार्डो, माल्थस जैसे अर्थशास्त्रियों ने राज्य के हस्तक्षेप को अस्वीकार करते हुए सीमित सरकार के विचार को आर्थिक आधार प्रदान किया। सबके साथ ही धार्मिक क्षेत्रों में राज्य की दखलंदाजी को भी उदारवादी लेखकों ने विरोध किया और इस प्रकार धर्मनिरपेक्ष राज्य की अवधारणा विकसित हुई।

19वीं0 शताब्दी में बेंथम,जेम्स मिल, जेअधिकतम व्यक्तियों का " मिल ने उपयोगितावादी दार्शनिकों ने.एस. के आधार पर लोकतंत्र का समर्थन किया। इस परिपेक्ष्य में सर्वप्रथम बेथम ने प्रतिनिधी सरकार तथा "अधिकतम सुख वयस्क मताधिकार के चिारों को पेश किया। बेथम ने गुपत मतदान, संसद की अवधि एक साल प्रेस तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता,मतदान को कारगर बनाने के लिए शिक्षा के महत्व पर जोर दिया। बेथम ने लोकतंत्र को एक

उपयुक्त शासन व्यवस्था,कानून व्यवस्था, समाज में बनाये रखने के लिए एकमात्र शासन विधि बताया। मेकरसन के शब्दों में इन्होने रक्षात्मक लोकतंत्र की आधारशिला रखी।

जे0एस0 मिल ने लोकतंत्र के नैतिक पहलू की ओर ध्यान केन्द्रित किया साथ ही लोकतंत्र को मानवीय विकास का एकमात्र साधन माना। मिल ने मतदान की शक्ति को केवल शासितों को नियन्त्रित करने की ही शक्ति नहीं माना। उन्होंने इस शक्ति को जनता के राजनीति में हिस्सा लिए जाने का उचित माध्यम माना। उनका दृढ़ विश्वास था कि अधिकार एवं स्वतंत्रता के माध्यम से जनता दायित्वों का अच्छी तरह अनुपालन करती है। मिल के विचारों के आधार पर ही टी .एच. ग्रीन तथा20वीं शताब्दी में लिंजसे, हॉबहाउस, बार्कर, लास्की, मैकाइवर, डेवी पैनोक आदि ने लोकतंत्र के विकासवादी पक्ष को मजबूत किया तथा उक्त सिद्वान्त को नवीन दिशा प्रदान की। इनके प्रयासों से बीसवी सदी में वयस्क मताधिकार मिला तथा राजनीति में जनता की भगीदारी उभरकर सामने आया । बीसवीं शताब्दी में पूंजीवादी व्यवस्था की आवश्यकता यह थी कि राज्य आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे। इसके परिणाम स्वरूप पूंजवादी अर्थव्यवस्था उदारवादी कल्याणवादी लोकतंत्रीय सरकार में बदल गई।

20वीं0 शताब्दी में लोकतंत्र उदारवादी सिद्वान्त के विकास में लास्की का महत्वपूर्ण योगदान है। लास्की ने जनता को अधिक से अधिक शिक्षित तथा योग्य बनाये जाने पर जोर दिया और लोकतन्त्र के आदर्श एवं संस्थाओं की विस्तृत व्याख्या की। राज्य की निरंकुश प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्वान्त पर प्रहार करते हुए उन्होंने सत्ता को विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं में विभाजित करने का बहुलवादी दृष्टिकोण दिया। लास्की ने सम्पुर्ण समाज के आर्थिक, समाजिक ,नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों तक इसके विस्तार का सुझाव दिया। उसने लोकतन्त्रीय सरकार को जनता के आर्थिक हितों को संरक्षक बनाकर लोकतन्त्र को एक विस्तृत आकार प्रदान किया।

इस सिद्वान्त के अनुसार लोकतंत्र से आशय मात्र शासन व्यवस्था से न होकर ऐसी शासन विधि से है जिसके द्वारा नागरिक राज्य कार्यों में अपनी भागीदारी को सुनिश्चित करते हैं अपनी योग्यताओं एवं सक्षमताओं का अधिकतम विकास करते हुए स्वस्थ समाज के निर्माण की आधारशिला बन सकने का प्रयास अपने हितों की पूर्ति के लिए करते हैं। लोकतंत्र का मुख्य ध्येय व्यक्ति का चहुमुखी विकास एवंम् सर्वकल्याण करना है। मिल ने इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा हैसमाज की सभी जरूरतों को केवल वही सरकार पूर्णरूपेण संतुष्ट कर सकती है। जिसमें सभी लोग हिस्सा - ले, छोटेमें जनता का भाग इतना छोटे कार्य में भी जनता का भाग लेना महत्वपूर्ण माना जाता है। प्रत्येक स्थान-से-अधिक होना च ाहिए जितना समाज का सामान्य कल्याण अनुमति दे और इससे अधिक अच्छी बात कोई नहीं हो सकती कि सबको राज्य की सम्प्रभुत्ता में हिस्सा मिलें । अतः प्रजातन्त्र में राजनितिक निर्णय मे जनता का योगदान को आवश्यक माना गया चाहे वह प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष।

**गुण (Merits):**

1. **जनहित का शासन (Public Welfare):** लोकतंत्र में प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने जाते हैं, इसलिए वे जनता की भलाई के लिए काम करने को मजबूर होते हैं। उन्हें पता होता है कि अगर काम नहीं किया, तो अगले चुनाव में जनता उन्हें हटा देगी।
2. **राजनीतिक शिक्षण (Political Education):** चुनाव प्रचार, भाषण और मीडिया की बहसों के कारण सामान्य नागरिक को भी देश की समस्याओं और उनके समाधानों के बारे में जानकारी मिलती है। इससे जनता जागरूक होती है।
3. **क्रांति का भय नहीं (No Fear of Revolution):** राजतंत्र या तानाशाही में सरकार बदलने के लिए अक्सर खून-खराबा या हिंसक क्रांति करनी पड़ती है। लोकतंत्र में बुलेट (Bullet) की जगह बैलेट (Ballot) का प्रयोग होता है। सरकार शांतिपूर्ण तरीके से बदल जाती है।
4. **समानता पर आधारित (Based on Equality):** इसमें जाति, धर्म, लिंग या अमीर-गरीब का भेदभाव किए बिना सभी को 'एक व्यक्ति, एक वोट' का अधिकार मिलता है। कानून की नजर में सब बराबर होते हैं।
5. **व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास:** लोकतंत्र लोगों को विचार व्यक्त करने, सभा करने और आलोचना करने की आजादी देता है, जिससे नागरिकों का मानसिक और नैतिक विकास होता है।

**दोष (Demerits):**

1. **अयोग्य लोगों का शासन (Rule of Incompetent):** आलोचकों (जैसे प्लेटो और अरस्तू) का कहना है कि लोकतंत्र में वोटों की गिनती होती है, तौला नहीं जाता। एक विद्वान और एक मूर्ख, दोनों के वोट की कीमत एक ही है। अक्सर अयोग्य लोग मीठी बातें करके चुनाव जीत जाते हैं।
2. **धन और समय का अपव्यय (Expensive System):** चुनाव कराने में अरबों रुपये खर्च होते हैं। संसद में लंबी बहसें होती हैं जिससे समय बर्बाद होता है और निर्णय लेने में बहुत देरी होती है।
3. **बहुमत की तानाशाही (Tyranny of Majority):** जिस पार्टी को ज्यादा वोट मिलते हैं वह सरकार बनाती है। कई बार वह अल्पसंख्यकों (Minorities) के हितों की अनदेखी करने लगती है।
4. **अस्थिरता (Instability):** अगर किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले, तो गठबंधन सरकारें बनती हैं जो अक्सर गिर जाती हैं। इससे देश की नीतियां बार-बार बदलती हैं।

5. **दलीय बुराइयां (Party Politics):** राजनीतिक दल सत्ता पाने के लिए जनता को जाति और धर्म के नाम पर बांट देते हैं, जिससे समाज में नफरत फैलती है।

**b. सर्वाधिकारवाद/अधिनायकवाद (Totalitarianism/Authoritarianism)**

सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism), जिसे सर्वसत्तावाद या समग्रवादी व्यवस्था भी कहा जाता है, एक राजनीतिक विचारधारा और शासन प्रणाली है जिसमें राज्य या शासक वर्ग अपनी सत्ता को असीमित मानता है। इसमें शासन न केवल राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों पर नियंत्रण रखता है, बल्कि व्यक्तियों के निजी जीवन, विचारधारा, संस्कृति और दैनिक गतिविधियों के हर पहलू पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करता है। यह लोकतांत्रिक मूल्यों के विपरीत है। सर्वाधिकारवाद का मूल सिद्धांत है कि राज्य 'साध्य' है और व्यक्ति मात्र 'साधन', जिसके कारण व्यक्तिगत अधिकारों को दबाया जाता है।

**परिभाषा**

राजनीति विज्ञान में सर्वाधिकारवाद को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है "यह वह राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें शासन अपनी सत्ता की कोई सीमारेखा नहीं मानता और लोगों के जीवन के सभी पहलुओं को यथासम्भव नियंत्रित करने को उद्यत रहता है।" एक अन्य परिभाषा के अनुसार, "सर्वाधिकारवाद वह राजनीतिक सिद्धांत है जो राज्य की शक्ति को एक ही जगह केंद्रित करने में विश्वास करता है।" यह प्रणाली शक्ति के संकेंद्रण पर आधारित होती है, जहां एकल नेता, पार्टी या समूह (जैसे फासीवादी या कम्युनिस्ट पार्टी) सभी निर्णय लेता है, और विरोध को दबाने के लिए दमनकारी उपकरणों (जैसे गुप्त पुलिस, प्रचार मशीनरी) का उपयोग किया जाता है।

सर्वाधिकारवाद की अवधारणा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ में उभरी, विशेषकर प्रथम विश्व युद्ध के बाद की अस्थिरता से इसका उद्भव हुआ। 'Totalitarianism' शब्द पहली बार 1920 के दशक में इटली के फासीवादी नेता बेनिटो मुसोलिनी द्वारा प्रयुक्त हुआ, जिन्होंने इसे 'सब कुछ के लिए राज्य' (Everything within the state, nothing outside the state) का सिद्धांत बताया। दार्शनिक रूप से, यह जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे उदारवादियों की आलोचना पर आधारित था, लेकिन व्यावहारिक रूप से यह औद्योगिक क्रांति, सामूहिक युद्धों और आर्थिक संकटों (जैसे 1929 की महामंदी) से प्रेरित था।

हन्ना आरेंट जैसे विचारकों ने अपनी पुस्तक "द ओरिजिन्स ऑफ टोटलिटेरियनिज्म" (1951) में इसे फासीवाद और स्टालिनवाद की संयुक्त व्याख्या के रूप में वर्णित किया।

सर्वाधिकारवाद की आलोचना इसकी मानवता-विरोधी प्रकृति के लिए की जाती है—यह व्यक्तिवाद को नष्ट करता है और सामूहिक दमन को जन्म देता है। हन्ना आरेंट ने तर्क दिया कि यह 'एकांतिकता' (isolation) पैदा करता है, जहां

व्यक्ति समाज से कट जाता है। हालांकि, इसका अध्ययन महत्वपूर्ण है क्योंकि यह लोकतंत्र की कमजोरियों (जैसे पॉपुलिज्म) को उजागर करता है।

**गुण (Merits) -**

1. **दक्षता और शीघ्र निर्णय (Efficiency):** चूँकि निर्णय लेने वाला एक ही व्यक्ति या एक ही पार्टी होती है, इसलिए फालतू बहस नहीं होती। निर्णय तुरंत लिए जाते हैं और सख्ती से लागू किए जाते हैं।
2. **अनुशासन (Discipline):** समाज में कड़ा अनुशासन होता है। हड़ताल, धरने या प्रदर्शन की अनुमति नहीं होती, जिससे कारखानों और दफ्तरों में काम नहीं रुकता।
3. **संकटकाल के लिए उपयुक्त:** युद्ध या किसी बड़ी मुसीबत के समय जब देश को एक होकर लड़ना हो, तो यह व्यवस्था बहुत कारगर होती है क्योंकि पूरा देश एक आदेश पर चलता है।
4. **तीव्र आर्थिक विकास (Rapid Economic Growth):** सोवियत रूस और चीन ने इस व्यवस्था के तहत बहुत कम समय में भारी औद्योगिक विकास किया, क्योंकि सरकार ने सारे संसाधन जबरदस्ती विकास कार्यों में लगा दिए।
5. **राष्ट्रीय एकता:** विरोध की अनुमति न होने के कारण देश में एक ही आवाज सुनाई देती है, जो सतही तौर पर एकता का आभास कराती है।

**दोष (Demerits):**

1. **स्वतंत्रता का विनाश (End of Liberty):** यह इसका सबसे बड़ा दोष है। इसमें व्यक्ति केवल राज्य का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। उसे बोलने, लिखने या सरकार की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं होता। मीडिया पूरी तरह सरकार के नियंत्रण में होता है।
2. **हिंसा और भय (Violence and Fear):** ऐसी सरकारें अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए गुप्तचर पुलिस, जेल और हत्याओं का सहारा लेती हैं। लोग हमेशा डर के साये में जीते हैं।
3. **अंतर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा:** अधिनायकवादी शासक अक्सर अपनी जनता का ध्यान समस्याओं से हटाने के लिए दूसरे देशों पर हमला करते हैं या युद्ध का माहौल बनाते हैं।

4. **उत्तराधिकार की समस्या:** जब तानाशाह मर जाता है, तो सत्ता के लिए उसके साथियों में खूनी संघर्ष होता है, क्योंकि सत्ता हस्तांतरण का कोई नियम नहीं होता।
5. **कला और संस्कृति का पतन:** डर के माहौल में कवि, लेखक और वैज्ञानिक खुलकर नहीं सोच सकते। वे केवल वही लिखते हैं जो शासक को पसंद हो, जिससे रचनात्मकता मर जाती है।

**अभ्यास प्रश्न**

**1. अरस्तू ने सरकारों का वर्गीकरण किस आधार पर किया?**

a. धर्म और जाति

b. संख्या और उद्देश्य

c. शक्ति और धन

d. भूगोल और संस्कृति

**2. अरस्तू के अनुसार, 'अनेक' व्यक्तियों का स्वहित (भ्रष्ट) शासन क्या कहलाता है?**

a. डेमोक्रेसी (Democracy)

b. पॉलिटी (Polity)

c. ओलिगार्की (Oligarchy)

d. टायरेनी (Tyranny)

**3 'पॉलिटी' (Polity) का विकृत रूप अरस्तू के अनुसार क्या है?**

a. राजतंत्र

b. लोकतंत्र (Democracy)

c. कुलीन तंत्र

d. निरंकुश तंत्र

**4. एकात्मक सरकार (Unitary Government) का सर्वोत्तम उदाहरण कौन सा है?**

a. भारत

b. अमेरिका

c. ब्रिटेन

d. कनाडा

**5. संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका किसके प्रति उत्तरदायी होती है?**

a. न्यायपालिका

b. जनता

c. विधायिका (संसद)

d. राष्ट्रपति

**6. निम्नलिखित में से किस देश में अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली है?**

a. भारत

b. ब्रिटेन

c. संयुक्त राज्य अमेरिका

d. जापान

**7. 'नाममात्र की कार्यपालिका' और 'वास्तविक कार्यपालिका' में अंतर किस शासन प्रणाली में पाया जाता है?**

a. अध्यक्षात्मक

b. संसदात्मक

c. निरंकुश तंत्र

d. एकात्मक

**8. अध्यक्षात्मक शासन का मुख्य सिद्धांत क्या है?**

a. सामूहिक उत्तरदायित्व

b. शक्तियों का पृथक्करण

c. संसद की सर्वोच्चता

d. नाममात्र का प्रधान

**9. भारत की शासन व्यवस्था को क्या कहा जाता है?**

a. पूर्णत: एकात्मक

b. पूर्णत: संघात्मक

c. राज्यों का संघ (अर्ध-संघात्मक)

d. अध्यक्षात्मक

**10. सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्य की विशेषता है:**

a. स्वतंत्र मीडिया

b. बहुदलीय व्यवस्था

c. राज्य का असीमित नियंत्रण

d. मानवाधिकारों का सम्मान

**11. अरस्तू ने कितने संविधानों का अध्ययन किया था?**

a. 150

b. 158

c. 160

d. 100

## 2.6 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि राजनीतिक व्यवस्थाओं को समझना एक जटिल प्रक्रिया है। परंपरागत रूप में अरस्तू का वर्गीकरण (संख्या और उद्देश्य के आधार पर) एक मजबूत नींव प्रदान करता है, लेकिन आधुनिक जटिलताओं को समझाने में असमर्थ है। आधुनिक वर्गीकरण अधिक व्यावहारिक है। यह संस्थागत संबंधों पर केंद्रित है।हमने सीखा कि एकात्मक और संघात्मक का अंतर शक्तियों के भौगोलिक बंटवारे पर है। संसदात्मक और अध्यक्षात्मक का अंतर कार्यपालिका और विधायिका के रिश्तों पर आधारित है। एक विद्यार्थी के रूप में, आपको यह समझना चाहिए कि कोई भी वर्गीकरण अंतिम नहीं है। उदाहरण के लिए, भारत में संघात्मक और एकात्मक दोनों के गुण हैं, और स्विट्ज़रलैंड की व्यवस्था इन सबसे अलग है। तुलनात्मक राजनीति का उद्देश्य इन्ही बारीकियों को समझना है।

## 2.7 शब्दावली

**चक्रिय परिवर्तन-** ऐसे बदलाव जो समय-समय पर दोहराए जाने वाले पैटर्न में होते हैं।

**महामंदी -** 1930 के दशक में आई एक गंभीर, विश्वव्यापी आर्थिक गिरावट थी, जो 1929 के अमेरिकी शेयर बाजार के पतन (Black Thursday) से शुरू हुई और लगभग 1939 तक चली, जिसमें उत्पादन, व्यापार, रोजगार और आय में भारी गिरावट आई, लाखों लोग बेरोजगार हुए और बैंकों तथा उद्योगों को भारी नुकसान हुआ, जिससे वैश्विक अर्थव्यवस्था और सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा असर पड़ा।

**विकृत** – ख़राब

## 2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.b. , 2.a. , 3.b. , 4.c. , 5.c. , 6.c. , 7.b. , 8.b. , 9.c. , 10.c. , 11. B

## 2.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची (References)


1. गाबा, ओ.पी. (2019), *राजनीति विज्ञान की रूपरेखा*, मयूर पेपरबैक्स, नई दिल्ली।
2. फाड़िया, बी.एल. (2020), *तुलनात्मक शासन एवं राजनीति*, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. जौहरी, जे.सी. (2014), *तुलनात्मक राजनीति*, स्टर्लिंग पब्लिशर्स।
4. Heywood, Andrew (2019), *Politics*, Palgrave Macmillan.


## 2.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. सरकारों के वर्गीकरण की आवश्यकता क्यों है? तुलनात्मक राजनीति में इसके महत्व की विवेचना कीजिए।

2. अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सरकारों के वर्गीकरण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. "अरस्तू का वर्गीकरण राज्यों का नहीं, बल्कि सरकारों का वर्गीकरण है।" इस कथन को स्पष्ट करते हुए उनके चक्रीय सिद्धांत को समझाइये।
4. आधुनिक काल में सरकारों के वर्गीकरण के प्रमुख आधार क्या हैं? विस्तार से बताइये।
5. लोकतंत्र और सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism) के मध्य मूलभूत अंतरों को स्पष्ट कीजिए।
6. क्या आपको लगता है कि अरस्तू का वर्गीकरण आज के राष्ट्र-राज्यों के लिए प्रासंगिक है? अपने तर्क दीजिये।

## इकाई 3 एकात्मक एवं संघात्मक शासन प्रणाली

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 एकात्मक शासन- अर्थ एवं परिभाषा

3.4 एकात्मक शासन की विशेषताएँ

3.5 एकात्मक शासन के गुण-दोष

3.5.1 एकात्मक शासन के गुण

3.5.2 एकात्मक शासन के दोष

3.6 संघात्मक शासन - अर्थ एवं परिभाषा

3.7 संघात्मक शासन की विशेषताएँ

3.8 संघात्मक शासन के गुण-दोष

3.8.1 संघात्मक शासन के गुण

3.8.2 संघात्मक शासन के दोष

3.9 संघ के लिए अपेक्षित शर्तें

3.10 एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर

3.11 सारांश

3.12 पारिभाषिक शब्दावली

3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

3.15 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

3.16 निबंधात्मक प्रश्न

## 3.1 प्रस्तावना

वर्तमान में छोटे राज्यों के साथ बड़े राज्य भी अस्तित्व में हैं। इन बड़े और विस्तृत राज्यों का शासन एक केन्द्रीय आधार पर या एक स्थान से कुशलता के साथ नहीं किया जा सकता। इसीलिए शासन की सुविधा की दृष्टि से समस्त राज्य को कई इकाइयों में बांट दिया जाता है। तत्पश्चात केन्द्र एवं इकाइयों में शक्तियों का विभाजन किया जाता है। संविधान द्वारा क्षेत्र के आधार पर शक्तियों का जो केन्द्रीकरण या वितरण किया जाता है और देश के शासन में केन्द्रीय और स्थानीय इकाइयों के बीच जों सम्बन्ध होता है,उसके आधार पर शासन व्यवस्थाओं को एकात्मक और संघात्मक दो रूपों में वर्गीकृत किया जाता है।

## 3.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढने के उपरान्त आप आप-

1. एकात्मक शासन प्रणाली की परिभाषा, उसकी विशेषताएं व गुण-दोष के विषय में जान पायेंगे।
2. संघात्मक शासन प्रणाली की परिभाषा, उसकी विशेषताएं व गुण-दोष के विषय में जान पायेंगे।
3. संघ के लिए अपेक्षित शर्तों के विषय में जानकारी ले पायेंगे।
4. एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर को जान पायेंगे।

## 3.3 एकात्मक शासन प्रणाली का अर्थ एवं परिभाषा

एकात्मक शासन व्यवस्था में, शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है। संविधान द्वारा शासन की समस्त शक्तियॉं केवल केन्द्रीय सरकार को ही सौंपी जाती हैं तथा इकाइयों को शासन की शक्तियॉं केन्द्र से प्राप्त होती हैं। स्थानीय अथवा इकाइयों की सरकारों का अस्तित्व एवं शक्तियॉं केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर करती है। एकात्मक शासन व्यवस्थाओं के प्रमुख उदाहरण हैं- ब्रिटेन, फ्रांस,चीन और बेल्जियम।

विभिन्न विद्वानों ने एकात्मक शासन की परिभाषाएँ दी हैं-

सी0एफ0स्ट्रांग के अनुसार ‘‘एकात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार सर्वोच्च होती है तथा सम्पूर्ण शासन एक केन्द्रीय सरकार के अधीन संगठित होता है और उसके अधीन जो भी क्षेत्रीय प्रशासन कार्य करता है, उसकी शक्तियॉं उसे केन्द्र सरकार से प्राप्त होती हैं।‘‘

फाइनर के शब्दों में ‘‘एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता, शक्ति, केन्द्र में निहित होती है और जिसकी इच्छा एवं अभिकरण पूर्ण क्षेत्र पर वैद्य रूप से मान्य होते हैं।‘‘

प्रो0गार्नर के अनुसार ''एकात्मक शासन, शासन का वह रूप है जिसमें शासन की सर्वोच्च शक्ति संविधान के माध्यम से एक केन्द्रीय सरकार को प्राप्त होती है तथा केन्द्र एवं स्थानीय सरकार के बीच संवैधानिक शक्ति का विभाजन नही होता और केन्द्र सरकार से ही स्थानीय सरकारों को शक्ति एवं स्वतंत्रता प्राप्त होती है।''

डायसी के शब्दों में ''एकात्मक राज्य में कानून बनाने की समस्त शक्तियॉ केन्द्रीय सत्ता के हाथों में निवास करती हैं।''

विलोबी के शब्दों में ''एकात्मक शासन में शासन के सम्पूर्ण अधिकार मौलिक रूप से एक केन्द्रीय सरकार में निहित रहते हैं तथा केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छानुसार शक्तियों का वितरण इकाइयों में करती है।''

## 3.4 एकात्मक शासन प्रणाली के विशेषताएं

एकात्मक शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं-

1. शासन की पूर्ण शक्ति केन्द्र में निहित- एकात्मक शासन की प्रमुख विशेषता यह है कि शासन कार्य की समस्त शक्तियॉ केन्द्रीय सरकार में निहित रहती हैं। शासन की सुविधा के लिए राज्य को प्रदेशों एवं प्रान्तों में बॉटा जा सकता है किन्तु इन प्रदेशों व प्रान्त सरकारों को शासन कार्य के लिए स्वतंत्र शक्तियॉ प्राप्त नहीं होती। केन्द्र ही उन्हें आवश्यकतानुसार शक्तियॉ देता है। उन्हें केन्द्र के अधीन रहकर ही कार्य करना होता है और इनका अस्तित्व पूर्णतः केन्द्र सरकार की इच्छा पर निर्भर रहता है।

2. इकहरी नागरिकता- एकात्मक शासन में नागरिकों को इकहरी नागरिकता(केन्द्र की) प्राप्त होती है। जबकि संघात्मक शासन में केन्द्र व राज्यों की पृथक-पृथक यानि दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है।

3. एक संविधान- एकात्मक शासन में सम्पूर्ण राष्ट्र का एक संविधान होता है। इकाइयों के लिए कोई अलग संविधान नहीं होता। संघात्मक शासन में कहीं-कहीं पर इकाइयों के अलग-अलग संविधान भी होते हैं। जैसे भारत में जम्मू-कश्मीर राज्य का अलग संविधान हैं। एकात्मक शासन वाले राज्यों में ऐसा नहीं होता।

## 3.5 एकात्मक शासन व्यवस्था के गुण-दोष

### 3.5.1 एकात्मक शासन प्रणाली के गुण

1. शासन में एकरूपता व शक्ति सम्पन्नता- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन में एकरूपता पाई जाती है। सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एक सा कानून होता है और केन्द्र के निर्देशन में उसे समान रूप से सर्वत्र लागू किया जाता है। फलतः पूरे राष्ट्र के शासन कार्यों में एकरूपता बनी रहती है। शासन की इस एकरूपता के कारण शासन-शक्ति संगठित रहती है, शासन कार्यों में दृढ़ता एवं मजबूती आ जाती है और संकट के समय यह शीघ्र निर्णय लेने के लिए सक्षम हो जाता है।

2. राष्ट्रीय एकता में वृद्धि- एकात्मक शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण राज्य में एक सा कानून, एक सी शासन व्यवस्था होने तथा सभी को एक समान न्याय मिलने के कारण, आपसी मतभेद पैदा नहीं हो पाते। सभी के साथ एक सा व्यवहार होने के कारण नागरिकों में राष्ट्र के प्रति सम्मान पैदा होता है और राष्ट्रीय एकता में वृद्धि होती हैं।

3. संकटकाल के लिए उपयुक्त- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की शक्ति एक ही स्थान पर केन्द्रीत होने के कारण संकट के समय यह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम होता है। इन निर्णयों को गुप्त भी रखना होता है और शीघ्र ही कार्यान्वित भी करना पड़ता है, इस हेतु एकात्मक शासन ही सक्षम होता है।

4. मितव्ययता- एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से शासन का संचालन होने और राज्य इकाइयों में अलग से कोई मंत्रिमण्डल व व्यवस्थापिका का गठन न करने से काफी खर्च बच जाता है। इस दृष्टि से यह मितव्ययी शासन व्यवस्था है।

5. छोटे राज्यों के लिए उपयोगी- एकात्मक शासन व्यवस्था छोटे राज्यों के लिए बहुत ही उपयोगी है, क्योंकि इसमें सम्पूर्ण शासन का संचालन एक ही स्थान से किया जाता है।

6. नीति संबंधी निर्णय में एकरूपता-एकात्मक शासन प्रणाली में नीति संबंधी जो भी निर्णय लिए जाते हैं उनमें एकरूपता बनी रहती है क्योंकि ये निर्णय एक स्थान से अर्थात केन्द्र से लिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त नीति-संबंधी निर्णयों के लिए केन्द्र को राज्य सरकारों से कोई भी राय व सहमति नहीं लेनी होती है, जिस कारण नीति संबंधी निर्णयों में एकरूपता आ जाती हैं।

7. आर्थिक विकास के लिए उपयुक्त- एकात्मक शासन व्यवस्था में एक ही स्थान से निर्णय लिये जाने के कारण पूरे राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर निर्णय लिए जा सकते हैं, जिस कारण यह व्यवस्था आर्थिक विकास के लिए उपयोगी होती हैं।

8. सुदृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति- एकात्मक शासन की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में काफी सुदृढ़ रहती है, क्योंकि इसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शीघ्रता से निर्णय लिया जा सकता है, समान रूप की नीति का अनुसरण किया जा सकता है और अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों को अधिक कुशलता के साथ निभाया जा सकता है।

9. संघर्ष की सम्भावना नही- एकात्मक शासन में शासन की समस्त शक्तियॉ केन्द्र के हाथों में रहती हैं तथा इकाइयॉ केन्द्र के पूर्णतः अधीन होकर कार्य करती हैं, जिस कारण केन्द्र तथा इकाइयों के बीच संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती है। प्रशासनिक निर्णय लेने में आसानी होती है।

### 3.5.2 एकात्मक शासन प्रणाली के दोष

1. शासन कार्य में कुशलता की कमी- एकात्मक शासन में शासन कार्यों का सम्पूर्ण संचालन एक ही स्थान अर्थात केन्द्र से संचालित होता है, जिसे शासन कार्य की कुशलता के लिए उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक ही स्थान से केन्द्रीय सरकार पूरे देश में कुशल शासन संचालन कर ले यह सम्भव नहीं है। अतः देश के सभी भागों के हितों व आवश्यकताओं की पूर्ति केन्द्र द्वारा नहीं हो सकती।

2. लोकतंत्र की भावना के विरूद्व- एकात्मक शासन व्यवस्था लोकतंत्र की भावना के विरूद्ध हैं क्योंकि इसमें प्रान्तीय अथवा स्थानीय स्वशासन को वो महत्ता नहीं मिलती जो लोकतंत्र में मिलती है।

3. शासन की निरंकुशता की सम्भावना- एकात्मक शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता का भय बना रहता है क्योंकि शासन की समस्त शक्तियॉ केन्द्र में ही निहित होती हैं। केन्द्र अपनी शक्तियों को बढ़ा कर निरंकुश न हो जाए और शासन के सभी क्षेत्रों में अपनी मनमानी न करने लगे, इस बात की सम्भावना बनी रहती हैं।

4. विविधताओं वाले राष्ट्रों में असफल- एकात्मक शासन व्यवस्था विविधताओं वाले राष्ट्रों में असफल रहती हैं, छोटे-छोटे राज्यों के लिए यह शासन व्यवस्था सफल हो सकती है, बड़े व विविधताओं वाले राष्ट्रों में नहीं, क्योंकि एक ही स्थान से शासन चलाने पर विभिन्न जाति, धर्म, भाषाओं व नस्लों के लोगों के हितों की पूर्ति सम्भव नहीं हो सकती।

5. स्थानीय संस्थाओं के क्रिया-कलापों पर प्रतिबन्ध- एकात्मक शासन व्यवस्था में, शासन में इतनी कठोरता और अंकुश रहता है कि इससे स्थानीय संस्थाओं के क्रिया-कलापों पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं उनकी स्वायत्तता लगभग समाप्त ही हो जाती है।

6. शासन कार्यो के प्रति उदासीन जनता- एकात्मक शासन-व्यवस्था में जनता को सार्वजनिक कार्यो में भागीदारी का पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं होता, जिस कारण जनता सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन रहती हैं। जनता को प्रशासनिक कार्यो में भाग लेने का अवसर प्राप्त न होने के कारण उन्हें राजनीतिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता है।

7. क्रान्ति का भय- एकात्मक शासन पर अनुदार होने का आरोप लगाया जाता है, क्योंकि प्रशासनिक अधिकारियों का अपरिवर्तनशील श्रंखलाबद्ध शासन स्थापित हो जाता है। अपनी उदारता के कारण यह प्रगति विरोधी हो जाता है तथा नई योजनाओं को जल्दी क्रियान्वित नहीं करता। फलस्वरूप इस शासन व्यवस्था में क्रान्ति का भय उत्पन्न हो जाता है।

अभ्यास प्रश्न- 1

1. एकात्मक शासन प्रणाली में शक्तियों का विकेन्द्रीकरण होता है। सही/गलत

2. एकात्मक शासन प्रणाली की यह परिभाषा किसने दी ‘‘एकात्मक शासन वह शासन है जिसमें सम्पूर्ण सत्ता, शक्ति, केन्द्र में निहित होती है और जिसकी इच्छा एवं अभिकरण पूर्ण क्षेत्र पर वैद्य रूप

से मान्य होते हैं।''

क. फाइनर ख. गार्नर ग. डायसी घ. लास्की

3. इकहरी नागरिकता..... पायी जाती है।

क. एकात्मक शासन प्रणाली में ख. संघात्मक शासन प्रणाली में

ग. मिश्रित शासन प्रणाली में घ. इनमें से कोई नहीं

## 3.6 संघात्मक शासन प्रणाली अर्थ एवं परिभाषा

संघात्मक शासन प्रणाली में संविधान के द्वारा केन्द्र व उसकी इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। इस शासन में संघीय (केन्द्रीय) सरकार और राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर शासन कार्य करती हैं। दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र होकर कार्य करती हैं। 'संघ' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के फोएड्स शब्द से हुई हैं, जिसका अर्थ है, 'समझौता' या 'संधि'। इस अर्थ के आधार पर समझौता या सन्धि द्वारा निर्मित राज्य को 'संघ' कहा जाता है। वर्तमान विश्व में संघीय राज्यों की संख्या दो दर्जन से ज्यादा नहीं है किन्तु ये राज्य-विश्व के बहुत बड़े हिस्से पर फैले हैं। विश्व के 06 बड़े राज्यों में 05 संघीय राज्य हैं, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका ,कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस। भारत, जर्मनी, दक्षिण अफ्रीका, व स्विट्जरलैण्ड आदि अन्य प्रमुख देश हैं। ज्ञातव्य है कि संघीय व्यवस्था ऐसा बना बनाया ढॉचा नहीं है जिसे भिन्न-भिन्न देशों में ज्यों का त्यों लागू किया जा सके। भिन्न-भिन्न देशों में अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार संघीय व्यवस्था अपने-अपने ढंग से विकसित हुई है।

**परिभाषाएँ**

फाइनर के अनुसार ''संघात्मक राज्य वह है, जिसमें सत्ता शक्ति का एक भाग इकाइयों में निहित रहता है, दूसरा भाग केन्द्र में, जो क्षेत्रीय इकाइयों के लोगों द्वारा जान-बूझकर संगठित की जाती है।''

गार्नर के अनुसार, ''संघ एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति (संविधान) के अधीन होती हैं तथा ये सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं।''

स्ट्रांग के शब्दों में, ''एक संघात्मक राज्य कई राज्यों के मेल से बना एक प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है जिसकी अपनी सत्ता ,मेल करने वाले राज्यों से प्राप्त होती है और जिसमें वे राज्य इस प्रकार बॅधे होते हैं कि एक राजनीतिक इकाई का निर्माण होता है।''

## 3.7 संघात्मक शासन की विशेषताएँ

संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं-

1. लिखित एवं कठोर संविधान- संघीय शासन का संविधान लिखित एवं कठोर होता है,ऐसा इसलिए कि इकाइयों के अहित में संविधान में कोई संशोधन न हो सके।

2. संविधान की सर्वोच्चता- संघात्मक शसन में संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्र एवं राज्य सरकारें संविधान द्वारा प्राप्त शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं, वे संविधान के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं कर सकती हैं।

3. सम्प्रभु शक्ति का दोहरा प्रयोग- संघीय शासन में सम्प्रभुता अविभाजित होती है किन्तु एक संघीय राज्य में सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति केन्द्र सरकार व राज्य सरकार को प्राप्त शक्तियों के आधार पर होती है तथा दोनों ही अपनी शक्तियॉ संविधान से प्राप्त करती हैं।

4. कार्यों एवं शक्ति का विभाजन- संघीय शासन व्यवस्था में शासन की शक्तियों का विभाजन संविधान द्वारा केन्द्र व राज्य सरकारों के बीच किया जाता है। शक्तियों के वितरण के साथ ही दोनों सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने को भी स्वतंत्र होती हैं।

5. स्वतंत्र एवं सर्वोच्च न्यायपालिका- संघीय शासन में सर्वोच्च न्यायालय स्वतंत्र होता है। उस पर सरकार के किसी भी अंग (व्यवस्थापिका व कार्यपालिका) का न तो कोई प्रभाव होता है न ही कोई दबाव। संविधान के संरक्षक के रूप में होने के कारण यह सर्वोच्च होता है।

6. दोहरी नागरिकता- संघीय शासन-व्यवस्था में नागरिकों को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है, एक तो केन्द्र की व दूसरी राज्यों (इकाइयों) की किन्तु भारतीय संघ इसका एक अपवाद है। यहॉ नागरिकों को संघ की ही नागरिकता प्राप्त हैं।

7. संबंध विच्छेद की स्वीकृति नहीं- संघीय शासन व्यवस्था में संघ एक स्थाई राज्य होता है। इसलिए किसी भी संघात्मक राज्यों में इकाइयों केा केन्द्र से अलग होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती है।

8. द्विसदनीय विधानमण्डल- संघीय शासन में द्विसदनीय विधानमण्डल (संसद) की व्यवस्था होती है। एक सदन-जिसमें राष्ट्र का प्रतिनिधित्व होता है और दूसरा सदन-जिसमें संघ की इकाइयों को प्रतिनिधित्व दिया जाता है। अमरीकी 'प्रतिनिधि सभा' व भारत की 'लोकसभा' समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि 'सीनेट' व 'राज्य सभा' इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती हैं।

## 3.8 संघात्मक शासन के गुण-दोष

वर्तमान में शासन व्यवस्था का सर्वाधिक प्रचलित रूप संघात्मक शासन है। इसीलिए 'सिजविक' का कथन है कि ''जब हम शासन व्यवस्था के स्वरूप के संबंध में भूत से भविष्य की ओर नजर दौड़ाते हैं तो हमें संघात्मक शासन-व्यवस्था के विकास की सबसे अधिक सम्भावना प्रतीत होती है। लास्की भी इसके समर्थन में कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्व समाज संधात्मक शासन-व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है।

### 3.8.1 संघात्मक शासन के गुण

1. विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी- संघात्मक शासन व्यवस्था विविधता वाले राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। जिस राष्ट्र में धर्म, जाति, वर्ग व भाषा के आधार पर विविधता पायी जाती है, उस राष्ट्र में यह शासन व्यवस्था इन विविधताओं की रक्षा करते हुए उपयोगी सिद्ध होती है। इस शासन व्यवस्था के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय शासन दोनों के ही हित सम्भव है। भारत जैसे देश में जहॉ इतनी विविधता पायी जाती है संघीय शासन पद्धति श्रेष्ठता के साथ कार्य कर रही हैं।

2. छोटे व कमजोर राज्यों के लिए उपयुक्त- संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्य संगठित होकर शक्तिशाली राज्य बन सकते हैं क्योंकि संघीय शासन व्यवस्था में छोटे व कमजोर राज्यों की स्वतंत्रता और उनका पृथक अस्तित्व बना रहता है और उन्हें आर्थिक विकास व सुरक्षा के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं।

3. सार्वजनिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण- संघीय शासन व्यवस्था सार्वजनिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण है। इस व्यवस्था में नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में विकास के पूर्ण अवसर प्राप्त होते हैं तथा संघ व राज्य इकाइयों को सार्वजनिक जीवन को उपयोगी बनाने हेतु सभी तरह के प्रयोग करने की स्वतंत्रता होती है।

4. बड़े राष्ट्रों के लिए उपयोगी- संघीय शासन प्रशासनिक क्षमता की दृष्टि से बड़े राष्ट्रों के लिए उपयोगी है। संघीय शासन में केन्द्र व राज्य इकाइयों के बीच शासन कार्यो की शक्तियों का बंटवारा होने के कारण यह शासन विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त है।

5. नागरिक अधिकारों की सुरक्षा- संघीय शासन में नागरिक अधिकारों की सुरक्षा बनी रहती है क्योंकि इस शासन व्यवस्था में शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण लगाये जाते हैं, जिससे नागरिक अधिकार सुरक्षित रहते हैं।

6. आर्थिक रूप से लाभकारी- संघात्मक शासन आर्थिक रूप से लाभकारी है। इस शासन व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्य इकाइयों को अपने-अपने आर्थिक संसाधनों को विकसित करने का अवसर मिलता है। संघात्मक शासन मितव्ययी भी है। सेना, रेल, डाक एवं तार तथा अन्य व्यवस्थाओं के एक हो जाने से व्यय में बहुत कमी आ जाती है।

7. सार्वजनिक कार्यों के प्रति उत्साह- संघात्मक शासन में नागरिकों की राजनीतिक चेतना के कारण सार्वजनिक कार्यों के प्रति उनमें उत्साह रहता है। संघात्मक शासन में नागरिकों को शासन-कार्यों में भागीदारी प्राप्त होती है, जिस कारण नागरिक समस्याओं के समाधान में अधिक रूचि लेते हैं, और उनमें आत्म-सम्मान व अभिरूचि की भावना का विकास होता है।

8. प्रजातंत्र के लिए उपयोगी- संघात्मक शासन-व्यवस्था प्रजातंत्र के लिए उपयोगी है, क्योंकि इसमें सत्ता के विकेन्द्रीकरण के कारण स्थानीय स्वशासन की भावनाओं का विकास होता है, जो प्रजातंत्र की सफलता के लिए आवश्यक है। स्थानीय स्वशासन के विकास के कारण नागरिकों को राजनीतिक ज्ञान मिलता है, उनमें राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

9. निरंकुशता की सम्भावना नहीं- संघात्मक शासन व्यवस्था में सरकार के निरंकुश होने की सम्भावना नहीं रहती। इस शासन व्यवस्था में केन्द्र व राज्य इकाइयों के बीच शासन-सत्ता का स्पष्ट विभाजन रहने के कारण केन्द्रीय सरकार निरंकुश और स्वेच्छाचारी नहीं बन सकती है। संविधान तथा न्यायपालिका का उनकी शक्तियों पर नियंत्रण रहता है। केन्द्र तथा स्थानीय सरकारें कोई भी एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। स्थानीय स्वशासन के संबंध में राज्य इकाइयों को बहुत स्वतंत्रता रहती है, जिस कारण तानाशाही की सम्भावना नहीं रहती।

### 3.8.2 संघात्मक शासन के दोष

उपरोक्त गुणों के बावजूद संघात्मक शासन में अनेक दोष पाए जाते हैं-

1. संगठन व कार्य-पद्धति में भिन्नता- संघीय शासन प्रणाली में प्रशासनिक संगठन व कार्य-पद्धति में भिन्नता पाई जाती है क्योंकि केन्द्र एवं राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता और शक्तियॉं प्राप्त होती हैं। कई बार ऐसे विषय होते हैं जो सामान्य महत्व के होते है लेकिन राज्यों को शक्ति प्राप्त होने के कारण अलग-अलग राज्यों द्वारा उस विषय पर अलग-अलग नियम बनाए जाते हैं, जो कठिनाई पैदा करते हैं।

2. जटिल और खर्चीली शासन प्रणाली- संघीय शासन व्यवस्था में संविधान कठोर होने के कारण इसमें आसानी से संशोधन नहीं किया जा सकता, जिस कारण कई बार शासन कार्यो में परेशानी आ जाती है और शासन कार्य जटिल हो जाता है। केन्द्र व राज्यों में दोहरी शासन प्रणाली होने के कारण यह व्यवस्था बहुत ही खर्चीली हो जाती है।

3. केन्द्र व राज्य सरकारों में विवाद- इस शासन व्यवस्था में कई बार संघ व राज्य सरकारों में शासन कार्यो के विषय में विवाद उत्पन्न हो जाता है। कुछ विषय ऐसे होते है जिन पर कानून बनाने व कार्य करने की शक्ति दोनों सरकारों को प्राप्त होती है। ऐसे विषयों पर केन्द्र व राज्य सरकारों में विवाद उत्पन्न हो जाता है।

4. संकट-काल में अनुपयुक्त- संघीय शासन प्रणाली में संविधान संशोधन की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल होती है जिस कारण यह शासन-प्रणाली संकटकाल के लिए उपयोगी नहीं होती।

5. प्रशासन कार्यों में एकरूपता का अभाव- संघीय शासन में केन्द्र व राज्य सरकारों को अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करने के लिए स्वतंत्रता व शक्तियॉ प्राप्त होती हैं और वे अपने-अपने राजनीतिक हितों और सुविधाओं के अनुसार कार्य करती हैं, कभी-कभी एक राज्य की नीति दूसरे राज्य पर गलत प्रभाव डालती है। अतः प्रशासनिक कार्यो के संबंध में इनमें (केन्द्र व राज्यों में) एकरूपता नहीं पायी जाती है।

6. विद्रोह की सम्भावना- संघात्मक शासन में यह आशंका बनी रहती है कि इकाई राज्यों की सरकारें विद्रोह कर सकती हैं और विरोधी हितों की रक्षा के लिए राज्य इकाइयों में फूट और कलह हो सकता है। गृह-युद्ध की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है।

## 3.9 संघ के लिए अपेक्षित शर्ते

संघ निर्माण के लिए कुछ अपेक्षित शर्तों या तत्वों का होना आवश्यक है। इन शर्तों की पूर्ति होने पर ही संघ का निर्माण सम्भव है। संघ की सफलता या असफलता इन शर्तों पर ही निर्भर करती है। संघ निर्माण के लिए केन्द्र तथा इकाइयों के बीच शासन-शक्तियों का स्पष्ट विभाजन होना चाहिए। साथ ही केन्द्र और इकाइयों की सरकारें एक-दूसरे से स्वतंत्र और एक-दूसरे के समकक्ष होनी चाहिए।

संघ निर्माण तथा उसकी सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें अनिवार्य है

1. भौगोलिक सामीप्य- संघीय राज्य का क्षेत्र भौगोलिक दृष्टि से सम्पर्कयुक्त होना चाहिए, यदि संघीय राज्य के भाग या इकाइयॉ जल अथवा भूमि द्वारा बड़ी दूरी से एक-दूसरे से कटे होंगे, तो संघीय-व्यवस्था को सफलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकेगा। भौगोलिक दृष्टि से निकटता होने पर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रीय प्रगति तेजी से हो सकती है। सैनिक दृष्टि से भी भौगोलिक समीपता का विशेष महत्व है। भारत व अमेरिका के संघीय शासन की सफलता का एक बड़ा कारण यह भी है कि भौगोलिक दृष्टि से इकाइयॉ एक दूसरे के निकट हैं। स्विट्जरलैण्ड व आस्ट्रेलिया के संघों में भी यह गुण मौजूद है।

2. संघ की इकाइयों में समानता- संघीय राज्य के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि संघ की इकाइयों को शक्तियों के स्तर में समानता प्राप्त होनी चाहिए, चाहे उनका प्रादेशिक और जनसंख्या संबंधी आकार कुछ भी हो ।सभी इकाइयों को शक्तियों का वितरण समानता के आधार पर प्राप्त होना चाहिए। शक्तियों के असमान वितरण से इकाइयों में असंतोष पनप सकता है और यह संघ निर्माण के लिए उचित नहीं हो सकता। इस संबंध में मिल का कथन है कि ‘‘संघ का सार यह है कि, कोई एक इकाई राज्य अन्य की अपेक्षा इतना अधिक शक्तिशाली और सम्पन्न न हो कि वह उन्हें दबाए और केन्द्रीय शासन को भी प्रभावित करने का प्रयास करे।

3. राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं में समानता- संघ के निर्माण की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि केन्द्र तथा राज्य स्तरों पर प्रशासनिक व्यवस्थाओं की शैली समान हो, भारत तथा आस्ट्रेलिया में केन्द्र तथा राज्यों के

स्तर पर शासन का संघीय रूप है। यदि सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से संस्थाओं में समानता नहीं होगी तो संघ का संगठित रहना कठिन हो जायेगा।

4. सामाजिक एवं आर्थिक विकास- संघीय शासन व्यवस्था सफलता पूर्वक कार्य करे इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण संघ का आर्थिक एवं सामाजिक विकास हो। यदि संघ का कोई भी क्षेत्र आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़ा एवं अविकसित होगा तो यह संघीय व्यवस्था के लिए क्षेत्रीय असन्तुलन पैदा कर देगा और यह स्थिति संघ की सफलता के लिए उचित नहीं है।

5. राजनीतिक योग्यता आवश्यक- संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक नेतृत्व कुशल होना चाहिए और जन-जागरूकता होनी चाहिए। असफल नेतृत्व संघीय व्यवस्था को कमजोर कर सकता है।

6. केन्द्र-राज्य समन्वय- संघ निर्माण की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र तथा राज्य इकाइयों के बीच सुखद समन्वय होना चाहिए तथा संघ का चरित्र प्रतियोगी नहीं सहयोगी होना चाहिए ,उसे अपनी नीतियों के प्रति कठोर नहीं नरम होना चाहिए। संघ की क्रिया दमनकारी नहीं बल्कि सहयोग पूर्ण होनी चाहिए।

7. धर्म, संस्कृति, भाषा आदि में समानता- संघ की सफलता में समान संस्कृति, भाषा, धर्म का बड़ा योगदान होता है क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से नजदीक राज्य अपनी संस्कृति, भाषा, धर्म की एकता व सुरक्षा के लिए एकत्र होकर संघ बना लेते हैं और यही एकता व समानता संघ की सफलता है।

8. संसाधनों की उपलब्धता- संघीय व्यवस्था में प्रत्येक इकाई की सरकार को मिलने वाले संसाधन एवं विषय पर्याप्त होने चाहिए। जिन राज्य इकाइयों में इन संसाधनों की कमी होती है उन्हें केन्द्र पर निर्भर रहना पड़ता है जिससे संघ की व्यवस्था डगमगा जाती है। अतः संघीय व्यवस्था में संसाधनों की पर्याप्त उपलब्धता होनी चाहिए।

9. राजनीतिक एवं राष्ट्रीय एकता- संघ की सफलता या निर्माण के लिए संघीय राज्य के नागरिकों को राष्ट्रीय रूप में व राजनीतिक दृष्टि से एकताबद्ध होना चाहिए तथा राष्ट्र का राजनीतिक स्वरूप इस तरीके से तैयार होना चाहिए कि पूर्ण राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता और राज्य इकाइयों से संबंधित लोंगों की इच्छाओं और आकांक्षाओं के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके। अतः जब तक लोगों में अपनी राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यों के प्रति अपनी निष्ठाएँ व वचनबद्धताएँ नहीं होगीं, तब तक कोई राजनीतिक व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। संघीय राज्य के लिए यह अति आवश्यक है ताकि लोग दोहरे शासनों के प्रति अपनी निष्ठा को कायम रख सकें।

10. राजनीतिक जागृति- संघ के निर्माण एवं सफलता के लिए उसके नागरिकों में सक्षम राजनीतिक चेतना होनी चाहिए। संघ के नागरिकों को, संघ और इकाई राज्यों के प्रति अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान आवश्यक है। संघ की सफलता उसके नागरिकों की राजनीतिक जागृति पर बहुत निर्भर करती है।

### 3.10 एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर

एकात्मक और संघात्मक शासन प्रणालियों में निम्नलिखित आधारों पर अन्तर पाया जाता है-

1. कार्यों और शक्तियों के विभाजन के आधार पर- एकात्मक शासन प्रणाली में शक्ति का स्रोत केन्द्र ही होता है। स्थानीय सरकारों को जो भी शक्ति प्राप्त होती हैं वह केन्द्र के द्वारा ही होती है और शासन कार्यों में किसी भी प्रकार का विभाजन नहीं होता। किन्तु संघात्मक शासन में शासन शक्तियॉ केन्द्र में निहित न होकर क्षेत्रीय सरकारों में भी वितरित होती है ओर इन शक्तियों का स्रोत संविधान होता है।

2. सरकारों की स्थिति के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन व्यवस्था मे केन्द्र सरकार के पास शासन की समस्त शक्तियॉ होती हैं तथा स्थानीय सरकारें केन्द्र के अधीन रह कर कार्य करती हैं। अतः इस शासन व्यवस्था में स्थानीय सरकारों का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत संघात्मक शासन में केन्द्र के साथ-साथ स्थानीय सरकारों को भी शासन शक्तियॉ प्राप्त होती हैं तथा वे केन्द्र से स्वतंत्र होकर संविधान की सीमाओं में रहकर कार्य करती हैं।

3. नागरिकता के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन वाले राज्यों में नागरिकों की एक ही नागरिकता होती हैं अर्थात राष्ट्रीय नागरिकता होती है, जबकि संघात्मक राज्यों में नागरिकों को राष्ट्रीय नागरिकता के साथ-साथ इकाइयों की नागरिकता भी प्राप्त होती है अर्थात संघात्मक राज्यों में दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है।

4. संविधान की स्थिति के आधार पर अन्तर- एकात्मक शासन वाले राज्यों मे संविधान लिखित और अलिखित दोनों प्रकारों का हो सकता है, जबकि संघात्मक शासन वाले राज्यों में शासन की शक्ति केन्द्र व राज्य सरकारों में विभाजित होती है ओर उस विभाजन को स्पष्ट करने की दृष्टि से संविधान का लिखित होना अनिवार्य है।

5. न्यायपालिका के कार्य संबंधी अंतर- संघात्मक शासन में न्यायपालिका को केन्द्र व इकाइयों, इकाई व इकाई के पारस्परिक अधिकारों संबंधी विवादों का निर्णय करना होता है, जबकि एकात्मक शासन में न्यायपालिका का कार्य मात्र यह देखना होता है कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानून कितनी ईमानदारी से लागू हो रहे हैं।

**अभ्यास प्रश्न- 2**

1. संघात्मक शासन प्रणाली में संविधान के द्वारा केन्द्र व उसकी इकाइयों के बीच शक्तियों का विभाजन किया जाता है। सही/गलत

2. 'संघ' शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के ''फोएड्स'' शब्द से हुई हैं। सही/गलत

3. संघात्मक शासन प्रणाली की यह परिभाषा किसने दी कि ''संघ एक ऐसी प्रणाली है, जिसमें केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारें एक ही प्रभुत्व शक्ति (संविधान) के अधीन होती हैं तथा ये सरकारें

अपने-अपने क्षेत्र में संविधान द्वारा दी गई शक्तियों के आधार पर ही कार्य करती हैं।''

क. लास्की ख. फाइनर ग. गार्नर घ. ब्राइस

4. किस शासन प्रणाली में दोहरी नागरिकता पायी जाती है?

क. एकात्मक शासन प्रणाली में ख. संघात्मक शासन प्रणाली में

ग. मिश्रित शासन प्रणाली में घ. इनमें से कोई नहीं

## 3.11 सारांश

मानव सभ्यता के विकास क्रम में किसी न किसी रुप में शासन का संचालन होता आया है। शासन संचालन के ये रुप समय व आवश्यकता के अनुसार बदलते रहे हैं। वर्तमान समय में शासन के दो रुपों एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली की विशेष चर्चा है। एकात्मक शासन प्रणाली शासन के सभी अधिकार केन्द्र के हाथों में रहते है और वहीं से शासन का संचालन होता है। तथा केन्द्रीय सरकार अपनी इच्छा अनुसार शक्तियों का वितरण करती है। प्रजातंत्रीय शासन प्रणाली में एकात्मक शासन प्रणाली अधिक प्रभावी नहीं है। लेकिन संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र व स्थानीय सरकारों में शक्ति का विभाजन होता है। विश्व के बड़े राज्यों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका ,कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस ने संघात्मक शासन प्रणाली को अपनाया है।

## 3.12 शब्दावली

केन्द्रीकरण- एक स्थान पर एकत्र होना

अपरिवर्तनशील- जो परिवर्तित (बदल) ना हो सके

प्रभुत्व शक्ति- सर्वोच्च शक्ति, प्रभावी शक्ति

सामीप्य- सुलभता, संगमता

समन्वय- सहयोग, सामंजस्य

## 3.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

**अभ्यास प्रश्न- 1**

1. गलत 2. क. 3. क.

अभ्यास प्रश्न- 2

1. सही 2. सही 3. ग. 4. ख.

## 3.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. इंटर-गवर्मेन्ट रिलेशन इन इंडिया ए स्टडी ऑफ फैडरलिज्म- अमल राय

2. फैडरल गवर्मेन्ट- के0 सी0 व्हीयर

3. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी गैना

## 3.15 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी गैना

2. आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त- डॉ0 पुष्पेश पाण्डे, डॉ विजय पंत एवं घनश्याम जोशी

## 3.16 निबंधात्मक प्रश्न

1. एकात्मक शासन प्रणाली के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बतलाइये।

2. संघात्मक शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बतलाइये।

3. एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए एकात्मक व संघात्मक शासन प्रणाली में अंतर को स्पष्ट करें।

# इकाई- 4 संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 संसदात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

4.3.1 संसदात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

4.3.2 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

4.3.3 संसदीय शासन प्रणालीके दोष

4.4 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

4.4.1 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

4.4.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण

4.4.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणालीके दोष

4.5 संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में अंतर

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

4.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

## 4.1 प्रस्तावना

सभी मानवीय समुदायों ने सामाजिक संबंधो के संयोजन, संघर्षों की रोकथाम और समाधान तथा समाज के समान उददेश्यों को प्राप्त करने के लिए, कोई न कोई नियंत्रण व्यवस्था अपना रखी है। सत्ता और नियंत्रण की इस व्यवस्था को सरकार (शासन) कहा जाता है। मूलतः सरकार (शासन) के तीन कार्य होते हैं। पहला- कानून बनाना, दुसरा- कानून लागू करना और तीसरा-विवादों को सुलझाना। इन कार्यो को पूरा करने वाले सरकार के तीन अंग होते है- विधायिका,

कार्यपालिका व न्यायपालिका। विधानमण्डल व कार्यपालिका के पारस्परिक संबंधों के आधार पर सरकारों का वर्गीकरण करते हुए दो प्रकार की सरकारें होती हैं- 1- संसदीय सरकार और 2- अध्यक्षीय सरकार।

जिस शासन व्यवस्था में कार्यपालिका का जन्म व्यवस्थापिका में से होता है और कार्यपालिका, विधानमण्डल के नियंत्रण में कार्य करती है एवं पूर्णरूप से उसके प्रति ही उत्तरदायी होती है तो ऐसी सरकार (शासन व्यवस्था) को संसदीय सरकार या मंत्रीमण्डलीय शासन या उत्तरदायी शासन कहते हैं। इसके विपरीत यदि विधानमण्डल और कार्यपालिका एक दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होकर कार्य करते हैं, दोनों समकक्ष दर्जे के होते हैं, दूसरे शब्दों में ये दोनों शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त के आधार पर काम करते है, तो ऐसी सरकार को अध्यक्षात्मक सरकार कहते है।

बेजहॉट ने संसदीय व अध्यक्षीय सरकारों का अन्तर इस प्रकार स्पष्ट किया है- ''व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शक्तियों की एक दूसरे से स्वतंत्रता, अध्यक्षीय शासन का विशेष लक्षण है और इन दोनों का एक दूसरे से संयोग तथा घनिष्ठता संसदीय शासन का लक्षण है।''

ब्रिटेन संसदीय शासन का सर्वोत्तम व आदर्श उदाहरण है, वह इस शासन व्यवस्था की जननी भी है। भारत में भी ब्रिटिश संसदीय पद्धति को ग्रहण किया गया है। अमेरिका अध्यक्षीय शासन का सर्वोत्तम व आदर्श उदाहरण है और इसका जनक भी है।

## 4.2 उद्देश्य

इस इकाई को पठने के उपरान्त आप-

1. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के अर्थ एवं परिभाषा को जान पायेंगे।
2. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के विशेषताओं के विषय में जान पायेंगे।
3. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों के विषय में विस्तार से जान पायेंगे।
4. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के अंतर को समझ पायेंगे।

## 4.3 संसदात्मक शासन प्रणाली -अर्थ एवं परिभाषा

संसदात्मक/संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका शक्तियॉ मंत्रीपरिषदके हाथों मे रहती है और यह कार्यपालिका (मंत्रीपरिषदया मंत्रीमण्डल), व्यवस्थापिका या उसके निचले सदन के प्रति उत्तरदायी होती है, राज्याध्यक्ष नाममात्र का शासक या प्रधान होता है।

प्रो0 गार्नर ने संसदात्मक या मंत्रीमंडलीय सरकार को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''संसदीय सरकार वह प्रणाली है, जिसमें वास्तविक कार्यपालिका (मंत्रीपरिषद्) अपने विधायी और प्रशासनिक कार्यों के लिए प्रत्यक्ष और कानूनी

तौर पर, विधानमण्डल अथवा उसके एक सदन (प्रायः लोकप्रिय सदन) के प्रति और राजनीतिक तौर पर निर्वाचक गणों के प्रति उत्तरदायी होती है, जबकि नाममात्र की कार्यपालिका (राज्य का प्रधान) अनुत्तरदायी स्थिति में होता है।''

गैटिल का, संसदात्मक शासन से अभिप्राय, शासन के उस प्रकार से है जिसमें कि प्रधानमंत्री और मंत्रीमण्डल से मिलकर बनने वाली वास्तविक कार्यपालिका अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति वैधानिक रूप से उत्तरदायी होती है।

यहॉ पर मंत्रीमण्डल और मंत्रीपरिषद शब्दों का प्रयोग हुआ है। दरअसल कार्यपालिका जो वास्तविक शासक या प्रधान और उसके मंत्रियों से मिलकर बनती है में दो स्तर के मंत्री होते हैं। पहला- केन्द्रीय मंत्री और दुसरा- राज्य मंत्री। राज्य स्तर के मंत्री भी दो प्रकार के होते हैं- स्वतंत्र प्रभार के मंत्री और राज्यमंत्री। स्वतंत्र प्रभार के मंत्री उन मंत्रियों को कहा जाता है, जिस विभाग में केन्द्र स्तर का मंत्री न हो और वह अपने विभाग के निणर्य स्वयं ले सकते है। जबकि राज्यमंत्री केन्द्रीय मंत्री के सलाह से ही कार्य करते है और निर्णय लेते है। मंत्रीमण्डल में वास्तविक शासक या प्रधान और केन्द्रीय मंत्री होते हैं, जबकि मंत्रीपरिषद में वास्तविक शासक या प्रधान और केन्द्र व राज्य स्तरीय सभी मंत्री होते हैं।

### 4.3.1 संसदात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

संसदीय शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

**1. वास्तविक और नाममात्र की कार्यपालिका का भेद**- संसदीय प्रणाली में दो प्रकार की कार्यपालिकाएं होती हैं- पहला नाममात्र की कार्यपालिका, और दुसरा वास्तविक कार्यपालिका। राज्य का प्रधान, नाममात्र की कार्यपालिका और प्रधानमंत्री सहित मंत्रीपरिषदवास्तविक कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन में वर्तमान समय में रानी और भारत में राष्ट्रपति नाममात्र के प्रधान ही हैं। ये मंत्रीपरिषदके निर्णयों के अनुसार ही अपने कार्य करते है। शासन के अच्छे या बुरे कार्यों का श्रेय मंत्रीपरिषदको ही मिलता है।

**2. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध-** संसदीय शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में अभिन्न संबंध होता है। कार्यपालिका का व्यवस्थापिका में से चयन होता है। मंत्रीगण व्यवस्थापिका के सदस्य होते है, वे व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं, व्यवस्थापिका वाद-विवाद, प्रश्न पूछकर काम रोको प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव आदि द्वारा मंत्रिपरिषदको नियंत्रित करती है और हटा भी सकती है। दूसरी ओर कार्यपालिका के सदस्य अर्थात मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका का नेतृत्व करते हैं, अधिकांश कानून उन्हीं की इच्छानुसार बनते हैं। आवश्यकतानुसार मंत्रीपरिषद निचले अर्थात लोकप्रिय सदन को भंग भी करा सकती है।

**3. राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष की नियुक्ति**- राज्य के अध्यक्ष द्वारा सरकार के अध्यक्ष (प्रधानमंत्री) की नियुक्ति की जाती है। यह नियुक्ति लोकसदन में बहुमत प्राप्त दल के नेता की होती है, लेकिन जब किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो तो ऐसी स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को, एक से अधिक दलों में गठित दल के नेता को

अथवा सर्वाधिक संख्या का समर्थन प्राप्त करने वाले नेता को प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया जाता है। पिछले अनेक वर्षों से यह परम्परा सी बन गई है।

**4. कार्यपालिका की अवधि की अनिश्चितता**- जैसा कि स्पष्ट है, इस शासन में मंत्रीपरिषदका कार्यकाल निश्चित नहीं होता है, मंत्रीपरिषदउसी समय तक रह सकती है जब तक कि उसे निचले सदन में बहुमत का समर्थन प्राप्त है।

**5. सामूहिक उत्तरदायित्व**- इसका अर्थ यह है कि किसी एक मंत्री के कार्य के लिए अकेला वही उत्तरदायी नहीं, वरन् समस्त मंत्रीपरिषद उत्तरदायी होती है। कारण यह है कि मंत्रिपरिषद में निर्णय सामूहिक रूप से ही होते है। इस प्रकार सामूहिक उत्तरदायित्व के कारण एक अच्छे शिक्षा मंत्री को बड़े व असफल रहे अन्य मंत्री के कारण त्यागपत्र देना पड़ सकता है। संक्षेप में मंत्रीगण एक साथ तैरते हैं, एक साथ डूबते हैं, वे सब एक के लिए है, और एक सब के लिए।

**6. राजनीतिक सजातीयता-** इसका अर्थ यह है कि सभी मंत्री एक ही राजनीतिक विचार और सिद्धान्त के हों , इसके लिए आवश्यक है कि साधारणतः वे एक ही राजनीतिक दल के हों, यद्यपि असाधारण स्थिति में मिली-जुली मंत्रीपरिषदभी बनती है। गंभीर संकट के समय अन्य दल के लोगों को लेकर राष्ट्रीय सरकार बनायी जा सकती है। जब संसद में कोई दल स्पष्ट बहुमत में न हो तो दो या दो से अधिक दल मिलकर मिली जुली सरकार का गठन कर सकते हैं। मंत्रीपरिषदकी सजातीयता, उसकी एकता व सामूहिक उत्तरदायित्व की दृष्टि से आवश्यक है।

**7. मंत्रीमण्डल की एकता-** मंत्रीमण्डल एक इकाई है, इसलिए मंत्रीमण्डल में जो निर्णय बहुमत से हो जाते है, उन्हें प्रत्येक मंत्री को स्वीकार करना पड़ता है या उन्हें मंत्री पद से त्यागपत्र देना पड़ता है। इस प्रकार मंत्रीमण्डल में रहते हुए कोई मंत्री किसी मतभेद को संसद में या सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं कर सकता है। सभी मंत्री एक ही स्वर में बोलते हैं।

**8. प्रधानमंत्री का नेतृत्व-** संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री का विशिष्ट स्थान होता है। वह मंत्रीपरिषदका नेता होता है, उसका कप्तान होता है, मंत्रीमण्डल का आधार स्तम्भ होता है, लोकसदन का नेता होता है, राष्ट्रीय प्रशासन का संचालक होता है। मंत्रियों की नियुक्ति व निष्कासन करता है, विभागों में परिवर्तन करता है। प्रधानमंत्री मंत्रीपरिषदका न केवल निर्माण करता है, वरन् वह उसके जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र-बिन्दु भी है। प्रधानमंत्री किसी मंत्री से असंतुष्ट होने पर उससे त्यागपत्र मॉग सकता है। लार्ड मॉर्ले ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को ‘‘मंत्रीमण्डल रूपी भवन की आधारशिला कहा है‘‘।

**9. गोपनीयता-** मंत्रीमण्डल की कार्यवाही गुप्त रहती है। सभी मंत्री गोपनीयता की शपथ ग्रहण करते हैं। मंत्रिगण मंत्रिमंडल के निर्णयों को या मतभेदों को संसद में या सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं कर सकते। मंत्री उचित समय पर ही कैबिनेट के निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं।

## 4.3.2 संसदीय शासन प्रणाली के गुण

संसदात्मक शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं।

**1. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच संघर्ष नहीं** - संसदीय शासन प्रणाली का एक गुण यह है कि व्यवस्थापिका (संसद) और कार्यपालिका में मतैक्य रहता है संघर्ष नहीं। दोनों अंग एक दूसरे की आवश्यकता और उपादेयता को समझते हैं, मंत्री व्यवस्थापिका में बैठते हैं, इच्छानुसार विधेयक व बजट आदि पारित कराते हैं, और संसद के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पालन करते हैं। ब्रिटेन में संसद व कैबिनेट के बीच संघर्ष देखने को नहीं मिलता है, जबकि अमेरिका में, जहॉ कि अध्यक्षीय शासन है, कॉग्रेस (व्यवस्थापिका) ओर राष्ट्रपति में संघर्ष की स्थिति पैदा हो जाती है।

प्रो0 डायसी ने लिखा है कि ''मंत्रीमण्डलात्मक सरकार की स्थापना कार्यपालिका और विधायिका शक्तियों के संयोजन पर आधारित है, साथ ही वह इन दोनों के बीच समरूप संबंधों को बनाये रखती हैं।''

**2. शीघ्र निर्णय**- शक्तियॉ मंत्रिमंडल में निहित होती हैं, जिसका संसद में बहुमत होता है। अतः वह शीघ्र निर्णय लेने में सक्षम हैं, दल का बहुमत होने के कारण वह आवश्यक कानून बनवा सकती है।

**3. कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती**- संसदीय सरकार का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें कार्यपालिका निरंकुश नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में यह सरकार उत्तरदायी सरकार है, जिसमें संसद मंत्रीपरिषदसे प्रश्न व पूरक प्रश्न पूछकर, काम रोको प्रस्ताव व अविश्वास प्रस्ताव द्वारा उसे नियंत्रित करती है। किसी मंत्री के कार्यो के लिए वह जॉच समिति भी नियुक्त कर सकती है। निःसंदेह यह शासन प्रजातंत्र शासन के अधिक निकट है।

**4. उत्तरदायित्व का निर्धारण सरलता से**- संसदीय शासन में उत्तरदायित्व का निर्धारण भी सरलता से हो जाता है, क्योंकि विधि निर्माण व प्रशासन का कार्य एक ही दल के हाथों में रहता है।

**5. उच्चकोटि का शासक वर्ग**- संसदीय सरकार की बागडोर प्रतिष्ठित व योग्य व्यक्तियों के हाथों में रहती है। लास्की ने ब्रिटेन के संदर्भ में लिखा है कि ''मंत्री लोग माने हुए संसदीय नेता होते हैं, मंत्री बनने से पूर्व वे संसद सदस्यों के रूप में राजनीतिक जीवन का अच्छा अनुभव कर चुके होते हैं।'' मंत्रियों को अपनी योग्यता दिखाने का भी अवसर मिलता है और वे स्वंय भी लोकप्रिय होने के लिए जनहित में कार्य करते हैं। अध्यक्षीय शासन में मंत्री, राष्ट्रपति के केवल सहालकार मात्र होते हैं।

**6. लचीली व्यवस्था**- प्रो0डायसी के अनुसार लचीलापन, संसदीय शासन का महत्वपूर्ण गुण है। यह शासन नयी परिस्थितियों व संकटकाल का सामना आसानी व कुशलता से कर सकता है। बेजहॉट के शब्दों में '' इस प्रणाली के अन्तर्गत लोग, अवसर के योग्य ऐसा शासक निर्वाचित कर सकते हैं जो राष्ट्रीय संकट में से राज्य के जहाज को सफलतापूर्वक ले जाने में विशिष्ट रूप में दक्ष हो।'' यह उल्लेखनीय है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन में

चेम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमंत्री बनाया गया था, ऐसा परिवर्तन अध्यक्षीय शासन में सम्भव नहीं है। इसमें गम्भीर संकट के समय राष्ट्रीय सरकार बनाने की व्यवस्था होती है।

**7. राजनीतिक चेतना और शिक्षा**- इस शासन से जनता में राजनीतिक चेतना पैदा होती है, लोगों को राजनीतिक प्रशिक्षण भी मिलता है, न केवल चुनावों के अवसर पर, वरन् राजनीतिक दल समय-समय पर विभिन्न विचारधाराओं व समस्याओं को जनता के समक्ष रखते हैं और अपना मत प्रकट करते हैं, जो समाचार पत्रों, सभा-सम्मेलनों, दलीय प्रत्रिकाओं आदि के माध्यम से जनता तक पहुँचते हैं और उन्हें जागरूक रखते हैं।

**8. राज्याध्यक्ष, दलबन्दी से दूर**- संसदीय प्रणाली में राज्य के प्रधान का पद बहुत हितकारक होता है, क्योंकि वह राजनीतिक दलबन्दी से परे रहता है। वह राष्ट्र की एकता का प्रतीक रहता है, वह सरकार के आलोचनात्मक मित्र के रूप में कार्य करता हैं।

**9. वैकल्पिक शासन की व्यवस्था**- संसदीय शासन का एक गुण यह भी है कि यदि किसी कारणवश सत्तारूढ़ दल अपना त्यागपत्र दे दे तो तुरन्त ही विरोधी दल को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित करके वैकल्पिक सरकार बन सकती है। शासन के कार्यों में रूकावट पैदा नहीं होती है। सरकार का परिवर्तन बहुत ही स्वाभाविक ढंग से हो जाता है। सन् 1979 में देसाई सरकार का पतन व विरोधी दल के नेता चरणसिंह को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किया गया।

**10. जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व** - डायसी के शब्दों में ''संसदीय प्रणाली के मंत्रीमण्डल को जनमत के प्रति बहुत सचेत रहना पड़ता है।''मंत्रीमण्डल जनता की इच्छा व उसकी आलोचनाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता है या शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी होती है।

### 4.3.3 संसदीय शासन प्रणालीके दोष

संसदीय शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं।

**1. अस्थिर शासन**- संसदीय शासन का पहला दोष यह है कि यह अस्थिर शासन है, क्योंकि मंत्रीपरिषदका कार्यकाल निश्चित नहीं होता है। बार-बार मंत्रीपरिषदके बदलने से प्रशासनिक नीतियों में भी स्थिरता नहीं रहती और इस प्रकार जनता के हितों को हानि पहुँचती है। यदि किसी देश में बहुदलीय प्रणाली है तो वहॉ के लिए तो यह स्थिति और भी भयंकर हो जाती है। फ्रॉस के तीसरे और चौथे गणतंत्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण है। ब्रिटेन में सरकार की स्थिरता के पीछे वहॉ की द्विदलीय प्रणाली है।

**2. दुर्बल कार्यपालिका-** अध्यक्षीय शासन की अपेक्षा संसदीय शासन में कार्यपालिका दुर्बल रहती है, क्योंकि पदच्युत् होने के डर से वह संसद को प्रसन्न करने में लगी रहती है। मंत्रीपरिषदनयी नीतियों का प्रयोग साहसपूर्वक नहीं कर पाती है।

**3. विधानमण्डल में समय और शक्ति का दुरूपयोग**- संसदीय शासन में विभिन्न राजनीतिक दलों का पारस्परिक विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। विरोधी दल की आलोचना भी सदैव रचनात्मक नहीं होती हैं। सत्तारूढ़ दल और विरोधी दलों में आरोपों और प्रत्यारोपों का दौर चलता ही रहता है। इसके कई बडें परिणाम निकलते हैं। जैसे विधानमण्डल में समय नष्ट होता है, कानून बनाने में विलम्ब होता है ओर जनता में उदासीनता आती है।

**4. उग्र राजनीतिक दलबन्दी**- संसदीय शासन राजनीतिक दलबन्दी को प्रोत्साहन देता है। लार्ड ब्राइस के शब्दों में ''यह प्रथा दलबन्दी की भावना में वृद्धि करती है और इसे सदैव उबलती रखती है। यदि राष्ट्र के सामने महत्वपूर्ण नीति संबंधी विषय न हो तो भी इसमें पद प्राप्त करने की लड़ाई बनी रहती है। एक दल के पास पद होता है, दूसरा इसे लेने की इच्छा रखता है और यह झगड़ा चलता रहता है क्योंकि पराजित होने के शीघ्र बाद ही हारा हुआ दल जीते हुए दल को हटाने के लिए अभियान आरम्भ कर देता है।''

**5. बहुमत दल की निरंकुशता का भय**- संसदीय शासन में बहुमत दल संसद और देश में निरंकुशता का व्यवहार करता है। ब्रिटेन और भारत में प्रायः कैबिनेट के अधिनायकतंत्र की बात कही जाती है। प्रो0लास्की ने ब्रिटिश कैबिनेट के संदर्भ में कहा है कि ''यह निश्चय ही कार्यपालिका को अत्याचारी बनने का अवसर देती है। यदि कार्यपालिका चाहे तो छोटे से छोटे विषय को विश्वास का प्रश्न बनाकर संसद को अपनी बात को मानने वाले केवल एक अंग मात्रा बनने के लिए बाध्य कर सकती है।'' रैम्जैम्योर तो संसदीय शासन को कैबिनेट की नहीं केवल एक व्यक्ति-प्रधानमंत्री की तानाशाही मानता हैं।

**6. शक्ति पृथक्करण, सिद्धान्त की उपेक्षा-** क्योंकि संसदीय शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में समन्वय रहता है। अतः शक्ति पृथक्करण के अभाव में न केवल व्यवस्थापिका की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है वरन् नागरिकों की स्वतंत्रता के अपहरण का डर भी बना रहता है।

**7. संकट के समय दुर्बल शासन**- डायसी जैसे विचारकों का मत है कि युद्ध या राष्ट्रीय संकट के समय संसदीय शासन अनुपयुक्त रहता है। कारण यह है कि निर्णय लेने से पूर्व मंत्रीमण्डल में पर्याप्त वाद-विवाद करना पड़ता है। मतभेद होने की स्थिति में प्रधानमंत्री को निर्णय लेने में कठिनाइओं का सामना करना पड़ता है। अधिकांश समय विचार-विमर्श व वाद-विवाद में नष्ट हो जाता है। मंत्रीपरिषदका अधिकांश समय संसद में अपनी नीतियों को स्पष्ट करने, संसद सदस्यों के प्रश्नों के उत्तर देने तथा वाद-विवाद में व्यतीत हो जाता है। प्रो0गिलक्राइस्ट के शब्दों में ''शान्ति के समय में वाद-विवाद करना संसदीय शासन का गुण है, परन्तु युद्धकाल में यह इसके सबसे बड़े दोषों में से एक है।''

8**. नौकरशाही का शासन पर अनुचित प्रभाव**- संसदीय शासन में मंत्री पद उनको दिया जाता है जो दल में अपना प्रभाव रखते हैं, जिन्हें राजनीतिक हथकंडे आते हैं। योग्यता के आधार पर तो कम लोगों को ही मंत्री पद मिलता है। फिर मंत्रियों का अधिकांश समय संसदीय वाद-विवादों में, दल की बैठकों में, उद्घाटन समारोह आदि में व्यतीत होता

है। फलस्वरूप मंत्री नौसिखिए बने रहते हैं और विशेषज्ञों अर्थात सिविल सेवकों के हाथों में वे कठपुतली बने रहते हैं। रैम्जेम्यूर ने ब्रिटेन के संदर्भ में लिखा है कि ''मंत्री उत्तरदायित्व की आड़ में नौकरशाही पनपती है।''

**9. निजी कार्यक्षेत्र में विमुखता**- सिजविक के अनुसार संसदीय प्रणाली का एक दोष यह है कि कई बार कार्यपालिका अपने प्रशासनिक कार्यों से विमुख होकर विधायनी कार्यों में जुट जाती है, इसी प्रकार संसद कानून बनाने से विमुख होकर शासन कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप करने लगती है।

**10. देश-हित का उल्लंघन-** आलोचकों का यह भी कहना है कि संसदीय शासन सत्तारूढ़ दल के द्वारा अपने दलीय स्वार्थ में ही होता है। इस शासन में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा का भय सदैव बना रहता है। अपने दल के हितों को ध्यान में रखकर ही मामलों का निपटारा होता है। फलस्वरूप प्रजातंत्र का ह्रास होता है।

**11. बहुदलीय प्रणाली में सरकार बनाने में कठिनाई**- संसदीय शासन उन देशों के लिए उपयुक्त नहीं है जहॉ कि बहुदलीय प्रणाली है। कारण यह है कि एक दल को जब स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता तो मिली-जुली सरकार बनती है जो कि असफल सिद्ध होती है। फ्रॉस ने बहुदलीय प्रणाली के कारण संसदीय प्रणाली को छोड़ दिया क्योंकि इसके कारण यहॉ सरकार में अस्थिरता बनी रहती थी। पिछले कुछ वर्षो से भारत में केन्द्र में यह स्थिति बनी हुई है।

## 4.4 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली- अर्थ एवं परिभाषा

जहां संसदीय सरकार सत्ता के संयोजन के सिद्धान्त पर आधारित होती है, वहीं अध्यक्षयात्मक/अध्यक्षीय शासन प्रणाली शक्ति विभाजन सिद्धान्त पर आधारित है। अध्यक्षीय शासन प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है। इसमें व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका सभी एक दूसरे से पृथक व स्वतन्त्र रहकर अपने कार्य करते हैं। कार्यपालिका शक्तियॉ राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं जिनका प्रयोग वह स्वतन्त्रतापूर्वक करता है। राष्ट्रपति या उसके मंत्री व्यवस्थापिका के न तो सदस्य होते हैं और न उसकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। राष्ट्रपति का कार्यकाल भी निश्चित होता है। व्यवस्थापिका उसे अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटा सकती हैं। इसी प्रकार व्यवस्थापिका भी अपने गठन, कार्य तथा कार्यकाल की दृष्टि से कार्यपालिका से पृथक व स्वतंत्र होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका का अनुकरण करते हुए कई क्षेत्रों में, खासकर, लेटिन अमेरिकी देशों ने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप इस शासन प्रणाली को अपनाया है। इनमें ब्राजील, अर्जनटाईना, चिली मैक्सिको तथा एशियाई देश, फिलीपिन्स, दक्षिण कोरिया आदि प्रमुख हैं।

प्रो0गार्नर ने अध्यक्षीय सरकार की परिभाषा इस प्रकार की है- ''यह वह प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका (मंत्रियों सहित राज्य का प्रधान) संवैधानिक रूप से अपने कार्यकाल के संबंध में और राजनीतिक नीतियों के संबंध में व्यवस्थापिका से स्वतंत्र होती है। इस प्रकार की प्रणाली में राज्य का प्रधान नाममात्र की कार्यपालिका नही होता, वरन् वास्तविक कार्यपालिका होती है और उन शक्तियों का वास्तव में प्रयोग करता है, जो संविधान व कानून के अनुसार उसको प्राप्त होती है।''

### 4.4.1 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की विशेषताएं

अध्यक्षीय शासन प्रणाली की निम्नलिखित विशेषताएं हैं।

1. राज्य के अध्यक्ष की स्थिति- राष्ट्रपति सरकार व राज्य दोनों का प्रधान- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति राज्य व सरकार दोनों का ही प्रधान होता है। वह राष्ट्रीय नीति का निर्माण करता है। सेनाओं के संचालन का ओदश देता है। आपातस्थिति की घोषणा कर सकता है तथा देश में व्यवस्था बनाए रखने हेतु कानूनों के प्रवर्तन के लिए सभी आवश्यक कदम उठाता है। इस प्रकार ऐसे शासन में ससंदीय शासन की तरह दो कार्यपालिकाएं (नाममात्र की व वास्तविक) नहीं होती हैं। संविधान द्वारा कार्यपालिका शक्तियॉ राष्ट्रपति को प्राप्त होती हैं, साथ ही उसकी यह शक्तियॉ वास्तविक भी होती हैं।

2. राष्ट्रपति का निश्चित कार्यकाल- अध्यक्षीय सरकार में राष्ट्रपति एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। अमेरिका में राष्ट्रपति का कार्यकाल चार वर्ष के लिए निश्चित है, इस अवधि से पहले व्यवस्थापिका उसे महाभियोग के अलावा अन्य किसी तरह से नहीं हटा सकती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में महाभियोग का कार्य ''हाऊस आफ रिप्रेजंटेटिव'' (प्रतिनिधि सदन) से आरम्भ होता है तथा राष्ट्रपति अपना स्पष्टीकरण देता है। विवाद का निर्णय सीनेट में पूरे सदन के 2/3 बहुमत से होता है। अब तक केवल एक बार अमेरिका में सन् 1867 में राष्ट्रपति जानसन के विरूद्ध महाभियोग लगाया गया लेकिन सीनेट में यह प्रस्ताव एक मत से पास होने से रह गया और राष्ट्रपति को पद से नही हटाया जा सका।

3. राष्ट्रपति व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता है तथा राष्ट्रपति(कार्यपालिका), व्यवस्थापिका को भंग नही कर सकता है। राष्ट्रपति तथा उसके मंत्री व्यवस्थापिका की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते। राष्ट्रपति व्यवस्थापिका में कोई महत्वपूर्ण भाषण देने हेतु जा सकता है अथवा वह अपना संदेश भेज सकता है जिसे व्यवस्थापिका स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। मंत्रीगण भी व्यवस्थापिका के सत्र में उपस्थित हो सकते है परन्तु मतदान का अधिकार नहीं होता। राष्ट्रपति या उसके मंत्री न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न उन्हें अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है, यानि व्यवस्थापिका भी कार्यपालिका को भंग नही कर सकती।

4. मंत्रीमण्डल का अभाव- अध्यक्षीय शासन में वैसा मंत्रीमण्डल नहीं होता, जैसा संसदीय शासन में होता है। राष्ट्रपति को सहायता व परामर्श देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। इन सचिवों को सामूहिक नाम से 'राष्ट्रपति की कैबिनेट' कह दिया जाता है। परन्तु सच्चे अर्थो में यह कैबिनेट नहीं है, न तों यह कैबिनेट एक इकाई के रूप में कार्य करती हैं, न वह विधायिका के प्रति उत्तरदायी है, न उसकी तानाशाही है। व्यवस्थापिका से मंत्रियों को कुछ लेना-देना नहीं है, राष्ट्रपति ही उनका 'स्वामी' है।

5. शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित- अध्यक्षीय सरकार की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। सरकार के तीनों अंग एक दूसरे से पृथक व स्वतंत्र होते है। कार्यपालिका के सदस्य न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते है और न वे कानून निर्माण में भाग लेते हैं, इसी प्रकार व्यवस्थापिका केवल कानून बनाती है। वह राष्ट्रपति या उसके मंत्रियों से न तो प्रश्न पूछ सकती है और न अविश्वास प्रस्ताव द्वारा पदच्युत कर सकती है।

6. संसदीय शासन में जिस प्रकार प्रधानमंत्री की महत्ता है वैसे ही अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति की महत्ता होती है।

### 4.4.2 अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के गुण

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

1. स्थायी एवं दृढ़ शासन- अध्यक्षीय शासन का सबसे महत्वपूर्ण गुण है-शासन में स्थायित्व। निश्चित कार्यकाल के कारण राष्ट्रपति अधिक आत्म-विश्वास के साथ नीतियों का निर्माण व उन पर अमल कर सकता है। इसका कार्यकाल चार वर्ष, दो बार से अधिक नही हो सकता है, यानि कार्यपालिका का भाग्य व्यवस्थापिका के परिवर्तनशील मत पर निर्भर नही होता है। अतः सरकार स्थिर नीति का पालन कर सकती है। उसे अपने कार्यों को पूरा करने के लिए व्यवस्थापिका की ओर ताकने की आवश्यकता नहीं होती है। अमेरिका में कॉग्रेस राष्ट्रपति के कार्यो में बहुत कम हस्तक्षेप कर सकती है।

2. अधिक कुशल शासन- शक्ति पृथक्करण पर आधारित होने के कारण यह शासन संसदीय शासन की तुलना में अधिक कुशल होता है। इसका कारण बताते हुए मैरियट ने लिखा है कि ''शासन की इस व्यवस्था में प्रशासन में वास्तविक रूप से कुशलता आती है क्योंकि मंत्रियों को हर समय व्यवस्थापिका में उपस्थित रहने में समय लगाना नहीं होता और व्यवस्थापन कार्य भी कुशलता से होता है, क्योंकि व्यवस्थापिका के सदस्यों के मस्तिष्क अपने विशिष्ट कार्य में ही लगे रहते हैं।''

3. दलबन्दी का अभाव- अध्यक्षीय शासन में दलबन्दी का उग्र व दूषित वातावरण वैसा नहीं रहता, जैसा संसदीय शासन में देखा जाता है। इस प्रणाली में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) व व्यवस्थापिका के निर्वाचनों के समय ही राजनीतिक दल सक्रिय रहते हैं, हर समय नहीं क्योंकि बीच में राष्ट्रपति को हटाया नही जा सकता है। अनावश्यक विरोध भी नही होता है और न राष्ट्रपति का दल उसका अन्धानुकरण करता है। निर्वाचन की समाप्ति के बाद राष्ट्रपति यदि चाहे तो अपने राजनीतिक दल से मुक्त होकर स्वतंत्र नीति पर चल सकता है। राजनीतिक दल प्रशासन पर अनुचित प्रभाव डालने में सक्षम नही हो पाते क्योंकि विरोधी दल के सामने ऐसा कोई लालच नहीं होता कि सदन के ज्यादा सदस्य यदि उसकी तरफ आ जाएँ तो वर्तमान सरकार टूट जायेगी और उसके स्थान पर दूसरी सरकार कायम हो सकेगी। यही कारण है कि दलबंदी की भावना जितनी संसदात्मक प्रणाली मे है, उतनी अध्यक्षीय प्रणाली में नही।

4. संकटकाल के लिए उपयुक्त- यह शासन संकटकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन है। कारण यह है कि कार्यपालिका शक्तियॉ सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों दृष्टियों में राष्ट्रपति में ही निहित होती हैं। अतः किसी संकट के समय में वह अकेला निर्णय लेने में समर्थ है।

5. राष्ट्रीय एकता की सुदृढ़ता- अध्यक्षीय शासन का एक गुण यह भी है कि राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ रहती है। राष्ट्रपति पूरे देश का नेता है, एक दल का नही। इसलिए भी उससे बुद्धिपूर्ण न्यायोचित और राष्ट्रहित की अपेक्षा लोगों को रहती है।

6. निरंकुशता का अभाव- इस शासन प्रणाली में शक्ति-पृथक्करण होता है। अतः शक्तियॉ एक स्थान पर केन्द्रित न होने के कारण जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं को संसदीय शासन की अपेक्षा कम खतरा रहता है। अध्यक्षीय शासन में जैसा कि अमेरिका में है अवरोध और सन्तुलन की प्रणाली'' के द्वारा, एक सरकार का अंग दूसरे अंग को नियंत्रित करता रहता है। जैसे राष्ट्रपति द्वारा की गई सभी नियुक्तियॉ व विदेशों के साथ संधियॉ, सीनेट द्वारा पुष्ट की जाती हैं। कांग्रेस द्वारा निमित कानून तथा कार्यपालिका के आदेश न्यायालय द्वारा इस आधार पर रदद् किए जा सकते हैं कि वे संविधान के विरूद्ध हैं। साथ ही राष्ट्रपति को भी इतनी व्यापक शक्तियॉ प्राप्त हैं कि व्यवस्थापिका और न्यायपालिका भी तानाशाह बनने का स्वप्न नहीं देख सकते।

7. योग्य और अनुभवी व्यक्तियों को मंत्री नियुक्त किया जा सकता है- अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति मंत्रियों को योग्यता व अनुभव के आधार पर नियुक्त करने के लिए स्वतंत्र है। राष्ट्रपति निकसन तथा जेराल्ड फोर्ड के शासनकाल में हेनरी कीसिंगर विदेश मंत्री बनाये गये जो पहले हारवर्ड विश्व विद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रोफेसर थे। परन्तु संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री के ऊपर कई प्रकार के बन्धन होते हैं और वह मंत्रियों की नियुक्ति केवल योग्यता व अनुभव के आधार पर ही नही करता है।

8. बहुदलीय प्रणाली वाले देशों के लिए उपयुक्त- उन देशों के लिए जहॉ बहुदलीय प्रणाली है, अध्यक्षीय शासन अधिक लाभकारी हो सकता है, कारण स्पष्ट है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए हो जायेगा, संसदीय सरकार की तरह मिले-जुले मंत्रीमण्डलों के बदलने का भय समाप्त हो जायेगा।

9. विशाल राष्ट्रों के लिए उपयुक्त- विशाल और विभिन्नतापूर्ण राष्ट्रों के लिए अध्यक्षीय शासन अच्छा है। जिस देश में भाषा, जाति व संस्कृति की विभिन्नता हैं, उसमें संसदीय शासन की तुलना में अध्यक्षीय शासन अधिक सफल हो सकता है।

### 4.4.3 अध्यक्षात्मक शासन प्रणालीके दोष

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली के दोष निम्नलिखित हैं।

1. अनुत्तरदायी एवं निरंकुश शासन- अध्यक्षीय शासन का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होने के कारण उसके निरंकुश होने का खतरा बना रहता है। इसीलिए आलोचक इस प्रणाली को ''निरंकुश, गैर

जिम्मेदार एवं खतरनाक'' कहते हैं। उसे महाभियोग की अत्यधिक कठिन प्रक्रिया होने के कारण आसानी से नहीं हटाया जा सकता। अतः वह एक अधिनायक की तरह शासन कर सकता है। बेजहॉट ने कहा है कि ''आपने अपनी सरकार (अध्यक्षीय) के संबंध में अग्रिम निर्णय कर दिया है, भले ही वह आपको पसन्द है अथवा नहीं, वह आपकी इच्छा की है या नहीं, आपको कानूनन उसे रखना ही होगा।''

2. सहयोग का अभाव- अध्यक्षीय शासन में शक्ति पृथक्करण के कारण सरकार के विभिन्न अंगो में सहयोग नहीं रह पाता है, प्रत्येक अंग एक दूसरे से ईर्ष्या रखता है व संघर्ष के लिए तैयार रहता है। राष्ट्रपति न तो व्यवस्थापिका की समस्या को समझ पाता है और न व्यवस्थापिका राष्ट्रपति की समस्या को। कभी-कभी इन कारणों से शासन में मतभेद व गतिरोध पैदा हो जाता है। विशेष रूप से उस समय जबकि राष्ट्रपति के दल का व्यवस्थापिका में बहुमत न हो। वास्तव में राष्ट्रपति की शक्तियॉ चाहे जितनी व्यापक हो, परन्तु कांग्रेस यदि वित्तीय मॉगों का अनुमोदन न करें तो कार्यपालिका विषम हो जाती है। ऐसा कई बार हुआ है।

3. कठोर शासन प्रणाली- अध्यक्षीय शासन में लचीलेपन का गुण नहीं होता है जोकि संसदीय शासन में होता है। इसके तीन कारण हैं, प्रथम, शासन संबंधी सभी बाते संविधान में निश्चित होती हैं। दूसरे, जब कोई संवैधानिक विवाद पैदा होता है तो न्यायालय की शरण ली जाती है, जिसका रवैया कठोर ही रहता है। तीसरे, संविधान कठोर होता है, अतः आवश्यकतानुसार संशोधन नही किये जा सकते हैं। यह सब बातें अमेरिका में पायी जाती हैं।

4. उत्तरदायित्व के निर्धारण की समस्या- अध्यक्षीय शासन में जब कोई गलत कार्य होता है, तो कार्यपालिका व व्यवस्थापिका इसका उत्तरदायित्व एक दूसरे पर थोपने का प्रयास करते है। संसदीय शासन की तरह यह उत्तरदायित्व कार्यपालिका के पास निश्चित नहीं होता है। चूँकि राजसत्ता बॅट जाती है। अतः यह पता नही चलता कि शासन की बुराई के लिए कार्यपालिका दोषी है अथवा विधानमंडल। राष्ट्रपति को शिकायत रहती है कि जिन कानूनों को वह जरूरी समझता है, उन्हे कांग्रेस या विधानमंडल पारित नहीं कर रहा है। दूसरी ओर विधानमंडल के नेता, यह कहते है कि कानूनों को ईमानदारी के साथ लागू नहीं किया जा रहा है।

5. वैदेशिक नीति की दुर्बलता- अमरीकन अध्यक्षीय शासन के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रपति स्वतंत्र व सुदृढ़ वैदेशिक नीति पर नहीं चल सकता, क्योंकि व्यवस्थापिका उसके कार्यो में बांधा डालती है। 1919 में राष्ट्रपति विलसन द्वारा की गई 'वार्साय की संधि' को अमरीकन सीनेट ने ठुकरा दिया था।

6. शक्ति-पृथक्करण की अव्यावहारिकता- अध्यक्षीय शासन शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है, परन्तु यह सिद्धान्त अव्यावहारिक है। शासन के कार्यों का पूर्ण पृथक्करण न तो सम्भव है और न वॉछनीय ही समस्त शासन मनुष्य के शरीर के समान है जिसके कई अंग कर देने से वह बेकार हो जाता है। शक्ति पृथक्करण के कारण कभी-कभी सरकार के अंगों में अनावश्यक मतभेद व गतिरोध होता है, जिससे प्रशासन निष्क्रिय हो जाता है।

7. एक व्यक्ति पर उत्तरदायित्व- अध्यक्षीय शासन का एक दोष यह भी है कि शासन का पूरा भार एक ही व्यक्ति राष्ट्रपति पर होता है। अतः शासन की सफलता या विफलता उसी के गुणों व अवगुणों पर निर्भर रहती है।

8. अत्यधिक खर्चीली- इस व्यवस्था में चुनाव बहुत खर्चीला होता है तथा आम-चुनावों के समय राजनीतिक दल पूर्ण रूप से सक्रिय होते हैं। वहीं सामान्य काल में महत्वहीन रहते हैं और राजनीतिक चेतना को प्रदीप्त करने का महत्वपूर्ण कार्य नही कर पाते।

## 4.5 संसदात्मक व अध्यक्षात्मक सरकारों में अंतर

1.संसदीय सरकार का आधार शक्तियों का संयोजन है, जबकि अध्यक्षीय सरकार का आधार है- शक्ति पृथक्करण।

2.संसदीय सरकार में राज्य का प्रधान (राजा या राष्ट्रपति) नाममात्र का होता है। प्रधानमंत्री सहित मंत्रीपरिषदवास्तविक कार्यपालिका होती है , अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति ही राज्य व सरकार दोनों का प्रधान होता है। अतः एक ही कार्यपालिका होती है।

3.संसदीय सरकार में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका से स्वतंत्र नही रहती, अध्यक्षीय शासन में वह व्यवस्थापिका से स्वतंत्र रहती है। अध्यक्षीय शासन में व्यवस्थापिका व कार्यपालिका दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग रहते हैं।

4.संसदीय शासन में कार्यपालिका तभी तक अपने पद पर है जब तक कि उसे संसद (प्रायः निचले) मे बहुमत का समर्थन प्राप्त है, परन्तु अध्यक्षीय शासन में कार्यपालिका (राष्ट्रपति) का कार्यकाल संविधान द्वारा निश्चित होता है। इससे पहले केवल महाभियोग की कार्यवाही से ही उसे पदच्चुत किया जा सकता है।

5.संसदीय शासन में मंत्रिगण व्यक्तिगत व सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी रहते हैं, परन्तु अध्यक्षीय शासन में केवल राष्ट्रपति के प्रति।

6.संसदीय शासन में मंत्रिगण आवश्यक रूप से व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और उनकी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। इतना ही नही वे व्यवस्थापिका का मार्ग-निर्देशन व नेतृत्व भी करते हैं। अध्यक्षीय शासन में मंत्री राष्ट्रपति के अधीनस्थ होते हैं।

7.संसदीय सरकार में प्रधानमंत्री और अध्यक्षीय शासन में राष्ट्रपति देश का नेतृत्व करता है।

अभ्यास प्रश्न-

1. संसदात्मक शासन प्रणाली का जनक किस देश को माना जाता है?

क. भारत ख. अमेरिका ग. ब्रिटेन

घ. जापान

2. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का जनक किस देश को माना जाता है?

क. अमेरिका ख. भारत ग. ब्रिटेन
घ. फ्रान्स

3. डायसी के अनुसार लचीलापन, संसदीय शासन का महत्वपूर्ण गुण है। सही/गलत

4. लार्ड मॉर्ले ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को ''मंत्रिमण्डल रूपी भवन की..... कहा है''।

## 4.6 सारांश

संसदीय और अध्यक्षीय शासन व्यवस्थाएं अपनी विशेषताओं के साथ-साथ अपने सबल तथा दुर्बल पक्षों को भी रखती हैं। इनमें से किसी शासन की सफलता किसी देश की जनता के स्वभाव व उसकी राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती है। अमेरिका में जहॉ अध्यक्षीय शासन प्रणाली सफल है, वहीं ब्रिटेन में संसदीय शासन प्रणाली बहुत सफल है।

आज भारत के संदर्भ में कहा जा रहा है कि उसे अध्यक्षात्मक प्रणाली स्वीकार कर लेनी चाहिए। वस्तुतः तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो संसदीय शासन अधिक ठीक है। इसके कई कारण है- यह उत्तरदायी शासन है, सरकार के विभिन्न अंगो के बीच संघर्ष की सम्भावना नहीं रहती है। संसदीय शासन प्रणाली प्रजातंत्र के भी अधिक निकट है।

## 4.7 शब्दावली

संयोजन- व्यवस्थित करना, ईष्या- जलन, विशिष्ट- प्रमुख/मुख्य या महत्वपूर्ण, सजातीयता- एक जाति विशेया का होना/समान्ता, सामूहिक उत्तरदायित्व- सब की जिम्मेदारी, शक्ति पृथक्करण- शक्ति का बटा होना, बहुदलीय- एक से अधिक दल, आपात स्थिति- संकट का समय

## 4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग 2. क 3. सत्य 4. आधारशिला

## 4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधुनिक तुलनात्मक राजनीति- पीटर एच0 मार्कल
राजनीति विज्ञान एक परिचय- पिनांक एवं स्मिथ
संवैधानिक सरकारें और लोकतंत्र- कार्ल जे0 फ्रैडरिक
तुलनात्मक राजनीति एंव राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी0 गैना

## 4.10 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. तुलनात्मक राजनीति एंव राजनीतिक संस्थाएं- सी0बी0 गैना

2. आधुनिक सरकारें- सिद्धान्त एंव व्यवहार- डॉ0 पुष्पेश पाण्डे, डॉ0 विजय प्रकाश पंत एंव घनश्याम जोशी

## 4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. संसदात्मक शासन प्रणाली को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोषों को स्पष्ट कीजिए।
2. संसदात्मक शासन प्रणाली की अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए इसकी विशेषताओं की विस्तार से चर्चा काजिए।
3. अध्यक्षीय शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए इसके गुण-दोष बताइये।
4. संसदात्मक व अध्यक्षात्मक शासन प्रणालियों को स्पष्ट करते हुए, दोनों शासन प्रणालियों में अंतर को स्पष्ट करें।

# इकाई 5 व्यवस्थापिका- एक सदनीय, द्विसदनीय, व्यवस्थापिका का पतन

इकाई की रुपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिकापतन के कारण

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 5.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक व्यवस्थापिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों का निर्माण करना होता है जिसके आधार पर शासन व्यवस्था का संचालन किया जाता है।

## 5.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- व्यवस्थापिका के पतन के क्या कारण हैं उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

## 5.3 व्यवस्थापिका: संगठन एवं कार्य

सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

व्यवस्थापिका के संगठन के कई आधार है। अलग-अलग देश मेंव्यवस्थापिका के संगठन के लिए अलग-अलग आधार अपनाया जाता है। कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है तथा कुछ देशों में व्यवस्थापिका का संगठन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। आमतौर से द्वितीय सदन के संगठन का आधार अप्रत्यक्ष होता है।

आधुनिक युग में व्यवस्थापिका के निर्वाचन का आधार राजनीतिक दल है। राजनीतिक दलों के आधार पर ही व्यवस्थापिका का संगठन होता है।व्यवस्थापिका के संगठन में उम्र, लिंग, स्थान आदि तत्त्वों को भी ध्यान में रखा जाता है। आमतौर से विश्व के अधिकांश देशो में प्रथम सदन के संगठन में वयस्क मताधिकार को ही आधार माना जाता है। कुछ विशेष प्रकार के हितों तथा अल्पसंख्यकों को मान्यता देने के लिए कुछ विशेष प्रकार की व्यवस्थाएँ अपनाई जाती है, जैसे आरक्षण, मनोनयन आदि।

व्यवस्थापिका के संगठन का विश्लेषण करने के क्रम में एकसदनात्मक एवं द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का उल्लेख करना आवश्यक है।

## 5.4 एकसदनात्मक व्यवस्थापिका

जिस व्यवस्थापिका में एक सदन हो उसे एकसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। अनेक विद्वानों का मत है कि एकसदनात्मक व्यवस्थापिका ही लोकतंत्र के लिए उपयुक्त है। फ्रांस के विद्वान विधिवेत्ता ऐबे सिएज के कथनानुसार द्वितीय सदन एक अनावश्यक सदन है। उसने द्वितीय सदन की अनुपयोगिता की चर्चा करते हुए कहा है, "द्वितीय सदन

यदि प्रथम सदन से सहमति व्यक्त करता है तो यह अनावश्यक है और यदि असहमति व्यक्त करता है तो शैतानी करता है" सिएज ने यह भी कहा है कि कानून लोगों की इच्छा का फल है। लोग एक ही समय में एक ही विषय पर दो भिन्न इच्छाएँ नहीं कर सकते।

फ्रांस और इंगलैंड में क्रमशः 1891 तथा 1651 ई0 में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका अपनाने का प्रयोग किया गया था, परंतु कई कारणों से वह प्रयोग सफल नहीं हो सका।

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की उपयोगिता के संबंध में यह कहा जाता है कि यह लोकतंत्र के अनुकूल है तथा इसके अंतर्गत दो सदनों के बीच पारस्परिक संघर्ष या तनाव का वातावरण नहीं रहता। आज अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि कई दृष्टियों से द्विसदनात्मक व्यवस्था ज्यादा उपयुक्त और उपयोगी है। आज यद्यपि चीन, यूनान, इस्टोनिया, युगोस्लाविया तथा कुछ अन्य देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका बनी हुई है, तथापि अधिकांश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को ही स्थान दिया गया है।

## 5.5 द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका: गुण एवं दोष

दो सदनों वाली व्यवस्थापिका को द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका कहा जाता है। आज विश्व के अधिंकाश देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया है। कई विद्वान यह मानते हैं कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका इंगलैंड की देन है। विलोबी ने कहा है, "यदि ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो शायद विश्व के अन्य विधानमंडल भी द्विसदनात्मक नहीं होते।" पोलॉस्की नामक विद्वान ने कहा है, "यह केवल ऐतिहासिक संयोग की बात है कि इंगलैंड की व्यवस्थापिका द्विसदनात्मक थी और अन्य देशों ने उसी का अनुसरण किया।"

जिन देशों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था है, वहाँ एक सदन को प्रथम सदन तथा दूसरे को द्वितीय सदन कहा जाता है। प्राचीन काल में द्वितीय सदन को उच्च सदन कहा जाता था। प्रथम सदन लोकप्रिय सदन होता है तथा द्वितीय सदन विशेष हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है। इंगलैंड की लार्ड्स सभा वहाँ के उच्च घराने के लॉर्डो एवं पियरों का प्रतिनिधित्व करती है। संघात्मक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत द्वितीय सदन राज्यों या संघ की ईकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है।

उच्च सदन या द्वितीय सदन की रचना में भी भिन्नता पाई जाती है। इंगलैंड में लॉर्ड्स सभा के संगठन का आधार वंश परंपरानुगत सिद्धांत है, अमेरिका, ब्राजील, आस्ट्रेलिया, पॉलैंड द्वितीय सदन प्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है। भारत में द्वितीय सदन अप्रत्यक्ष ढंग से निर्वाचित होता है तथा इसके कुछ सदस्य मनोनीत भी होते है।

### द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण

प्रत्येक व्यवस्था की तरह द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में भी गुण-दोष पाए जाते हैं। हम सर्वप्रथम इसके गुणों का वर्णन करेंगे।

1.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक के रूप में काम करता है। यदि एक ही सदन हो तो वह मनमाने ढंग से जन विरोधी कानून भी पारित कर दे सकता है। लिकॉक के कथनानुसार, "एकसदनात्मक व्यवस्थापिका निरंकुश तथा अनुत्तरदायी होती है तथा भावनाओं के प्रवाह में बह जाती है।" जे0 एस0 मिल ने भी कहा है, "द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान होना चाहिए जिससे कोई भी सदन असीमित शक्तियों के दूषित प्रभाव का शिकार न हो।"

2.आमतौर से प्रथम सदन जल्दबाजी में विधिनिर्माण के क्रम में अनेक प्रकार की भूलें या गलतियाँ कर देता है, जिनका सुधार द्वितीय सदन के द्वारा किया जाता है। लेकी ने कहा है, "द्वितीय सदन कानून पर सुधारात्मक, रोकात्मक तथा क्रमबद्धात्मक प्रभाव डालता है।"

3.लोकप्रिय सदन में, प्रत्यक्ष निर्वाचित सदस्य होने के कारण, अधिकांश सदस्यों को कानूनी भाषा का पूर्ण ज्ञान नहीं रहता जिसके कारण प्रथम सदन द्वारा पारित विधेयकों में भाषा की अनेक अशुद्धियाँ रह जाती हैं, जिसे द्वितीय सदन में दूर करने का प्रयास किया जाता है।

4.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व संभव नहीं है, क्योंकि इसके अंतर्गत सदन का संगठन प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन में विशेष हितों का प्रतिनिधित्व आसानी से हो सकता है।

5.कुछ ऐसे लोग होते हैं, जिनकी सेवा या योगदान की व्यवस्थापिका को आवश्यकता होती है, परंतु वे लोग चुनाव लड़कर लोकप्रिय सदन में नहीं आ सकते। भारत में जिस ढंग से तथा जिस आधार पर चुनाव संपन्न होता है, अधिकांश अच्छे लोग बलवती इच्छा एवं योग्यता रहने के बावजूद चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। उस स्थिति में द्वितीय सदनों के माध्यम से ही विशेषज्ञ एवं प्रबुद्ध लोग व्यवस्थापिका में स्थान पाते हैं।

6.एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में एक सदन रहने के कारण विधि निर्माण तथा विधियों के संशोधन के संबंध में संपूर्ण भार एक ही सदन पर पड़ जाता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत विधिनिर्माण-संबंधी कार्य दोनों सदनों में बँट जाने के कारण एक सदन पर कार्यभार अधिक नहीं रहता।

7.दो सदन रहने के कारण किसी भी विधेयक या विषय पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का व्यापक अवसर मिलता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी विषय या विधेयक पर वाद-विवाद या विचार-विमर्श का अवसर केवल एक ही सदन में रहता है। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत वाद-विवाद या विचार-विमर्श दोनों सदनों में होने के कारण किसी भी विधेयक पर वाद-विवाद का व्यापक अवसर प्रदान किया जाता है।

8.संघात्मक शासन में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की विशेष उपयोगिता होती है। संघीय शासन के अंतर्गत द्वितीय सदन इकाईयों का प्रतिनिधित्व करता है। प्रथम सदन संपूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है।

9.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका लोकतंत्र के सिद्धांतों के उपयुक्त है, क्योंकि इसके अंतर्गत शक्तियों या अधिकारों का एक जगह जमाव नहीं हो सकता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के अतंर्गत अधिकारों एवं शक्तियों का एक स्थल पर केंद्रित या जमाव होने के कारण लोकतंत्र के सिद्धांतों पर आघात पहुँचने की पूरी संभावना रहती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था एकसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था से श्रेष्ठ है। ब्लंश्ली ने कहा है, " इसमें संदेह नहीं कि एक आँख से दो आँखें अच्छी होती हैं।" गेटेल के कथनानुसार, "दो भवनों के रहने से विचार-विमर्श में सतर्कता एवं सुन्दर संतुलन तथा अधिक सावधानी से विश्लेषित एवं संगृहीत व्यवस्थापन की प्राप्ति होती है।" विश्व के अधिकांश देशों में द्वितीय सदन का अस्तित्व इसकी उपयोगिता का प्रतीक है।

दोष-

**द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के कुछ दोष हैं,** जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है-

1.प्रथम सदन लोकप्रिय सदन कहलाता है। इसका संगठन जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है। द्वितीय सदन का संगठन या तो प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर होता है या मनोनयन के आधार पर। द्वितीय सदन द्वारा प्रथम सदन पर किसी भी प्रकार अंकुश लोकप्रिय संप्रभुता के सिद्धांत पर अंकुश कहा जा सकता है।

2.अनेक आलोचकों का यह मत है कि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत द्वितीय सदन के रहने से अनावश्यक व्यय होता है। कई विद्वानों का मत है कि द्वितीय सदन की कोई विशेष उपयोगिता नहीं होती है, इसलिए उस पर होने वाला व्यय अनावश्यक व्यय है।

3.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत द्वितीय सदन को अमीरों तथा कुछ विशेष वर्ग के लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन कहा जाता है। इंगलैंड की लॉडर्स सभा को 'धनवानों का गढ़' कहा जाता है।

4.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पद्धति के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच मतभेद या तनाव की स्थिति बनी रहती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश के संविधान के अंतर्गत दोनों सदनों के बीच गत्यावरोध की स्थिति को दूर करने के लिए आवश्यक प्रावधान किए गए हैं।

5.द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक को पारित होने में काफी समय लगता है, क्योंकि विधेयक की दो-दो सदनों से एक ही प्रकार की प्रक्रिया अपनाकर पारित किया जाता है। इस प्रकार द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली में समय और अर्थ का दुरूपयोग होता है।

6.आमतौर से द्वितीय सदन की बनावट का आधार अप्रत्यक्ष निर्वाचन या मनोनयन रहता है। यह व्यवस्था लोकतंत्र के सिद्धांत के प्रतिकूल है।

7.कई विचारक यह मानते हैं कि कानून के निर्माण के लिए दो सदनों का होना अत्यावश्यक है। द्वितीय सदन प्रथम सदन की गलतियों एवं त्रुटियों को दूर करता है। यह विचार आधुनिक युग में विशेष महत्व नहीं रखता। **प्रो0 लॉस्की** ने कहा है कि आज किसी विधेयक को कानून का रूप देने के लिए प्रथम सदन में लंबे अरसे तक विचार-विमर्श होता है, इसलिए आज के संदर्भ में कानून-निर्माण में द्वितीय सदन की विशेष उपयोगिता नहीं रह गई है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के गुण-दोषों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अनेक त्रुटियों के बावजूद आज अधिकांश देशोंमेंद्विसदनात्मक व्यवस्थापिका को मान्यता दी गई है। इसका गुणात्मक पक्ष इसकी कमजोरी या निषेधात्मक पक्ष से कहीं अधिक सशक्त है।

## 5.6 व्यवस्थापिका के कार्य

व्यवस्थापिका का गठन मूलतः विधिनिर्माण के लिए होता है, परंतु विधिनिर्माण के अतिरिक्त व्यवस्थापिका के अनेक कार्य हैं तथा इसकी शक्तियाँ भी व्यापक हैं। आधुनिक युग में राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र है, जहाँ व्यवस्थापिक का प्रभाव या संबंध नहीं हो। व्यवस्थापिका की शक्तियों एवं कृत्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जाता है-

1. विधिनिर्माण - व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य विधिनिर्माण है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, विधायिका का संगठन विधिनिर्माण के लिए होता है। जनता की इच्छा को कानून के रूप में अभिव्यक्ति देने के लिए व्यवस्थापिका के अंतर्गत जनता के प्रतिनिधि भेजे जाते हैं। कुछ बातों को छोड़कर कानून बनाने की प्रक्रिया सर्वत्र एक प्रकार की रहती है। अध्यक्षात्मक एवं संसदीय प्रणलियों में विधिनिर्माण की प्रक्रिया में भिन्नता पाई जाती है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिपरिषद के किसी सदस्य के द्वारा ही सार्वजनिक विधेयक प्रस्तावित किए जाते हैं। विरोधी दल या निर्दलीय सदस्य द्वारा प्रस्तावित विधेयकों को गैरसरकारी विधेयक कहा जाता है। आम तौर से सरकारी सदस्यों द्वारा प्रस्तावित विधेयक ही कानून का रूप धारण करते हैं।

साधारण विधेयक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अंतर्गत किसी भी सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है। दोनों सदनों द्वारा अलग-अलग पारित होने के बाद विधेयक को राज्याध्यक्ष के पास स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। आमतौर से राज्याध्यक्ष उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर देता है, परंतु कुछ स्थितियों में वह उसे पुनर्विचार के लिए व्यवस्थापिका के पास लौटा देता है। प्रत्येक सदन में विधि निर्माण के संबंध में तीन पठन होते हैं।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका प्रणाली के अंतर्गत किसी भी विधेयक के संबंध में दोनों सदनों के बीच गत्यवरोध की स्थिति को दूर करने के लिए अलग-अलग प्रावधान किए गए हैं। भारत में लोकसभा और राज्यसभा के बीच गत्यवरोध को दूर करने के लिए संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था की गई है। इंगलैंड में लार्ड्स सभा किसी विधेयक को एक वर्ष तक अपने पास रोक सकती है। एक वर्ष के बाद वह उसी रूप में पारित हो जाता है, जिस रूप में कॉमन्स सभा ने उसे

पारित किया है। अमेरिका में साधारण विधेयकों के संबंध में प्रतिनिधि सभा और सिनेट के समान अधिकार हैं। दोनों सदनों द्वारा पारित होने के बाद ही कोई विधेयक कानून का रूप धारण कर सकता है।

इस संबंध में विशेष रूप से एक बात उल्लेखनीय है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में प्रमुख जिम्मेदारी कार्यपालिका की रहती है। सभी सार्वजनिक विधेयक मंत्रिपरिषद के सदस्य द्वारा प्रस्तावित किए जाते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधिनिर्माण में राष्ट्रपति या उसके मंत्रिमंडल के सदस्यों का हाथ नहीं रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल के सदस्य व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते।

2.कार्यपालिका पर नियंत्रण-व्यवस्थापिका का दूसरा प्रमुख कार्य कार्यपालिका पर नियंत्रण है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका निम्नलिखित ढंग से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है-

(क) मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

(ख) व्यवस्थापिका सरकार की आलोचना कर सकती है, सरकारी नीति पर वाद-विवाद कर सकती है तथा सरकार के विरूद्ध निंदा का प्रस्ताव पारित कर सकती है।

(ग) व्यवस्थापिका के सदस्य मंत्रियों से उनके विभागों के बारे में आवश्यक प्रश्न पूछ सकते हैं।

(घ) व्यवस्थापिका के अंतर्गत राज्याध्यक्ष के अभिभाषण पर वाद-विवाद कर भी वह कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(ङ) बजट में कटौती का प्रस्ताव पारित कर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(च) स्थगन प्रस्ताव के जरिए भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

(छ) सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण ढंग कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का है, अविश्वास का प्रस्ताव। व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को मंत्रिपरिषद के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित करने का अधिकार है। प्रथम सदन द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पारित किए जाने पर मंत्रिपरिषद अपदस्थ हो जाती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण नहीं रखती है, फिर भी अध्यक्षातम्क शासन-प्रणाली के अतंर्गत नियंत्रण का स्वरूप कहीं अधिक प्रभावशाली है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियों एवं संधि के प्रस्तावों पर सिनेट का अनुसमर्थन आवश्यक है। इस प्रकार, अमेरिका की सिनेट राष्ट्रपति के प्रतिद्वंद्वी के रूप में काम करती है।

अन्य शासन-प्रणालियों के अंतर्गत भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण रहता है।

3. वित्तीय कार्य-कार्यपालिका वित्तीय लेन-देन एवं संचालनों के लिए उत्तरदायी है, परंतु अंतिम रूप से व्यवस्थापिका कार्यपालिका के वित्तीय संचालनों पर नियंत्रण रखती है। हर देश में प्रतिवर्ष कार्यपालिका बजट के रूप में अपने आय-व्यय का विवरण व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत करती है। व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत होने के बाद ही कार्यपालिका टैक्स लगा सकती है तथा विभिन्न मदों पर व्यय कर सकती है। व्यवस्थापिका को बजट में कटौती करने का अधिकार प्राप्त है। अनुदान की माँगे, विनियोग विधेयक आदि पर व्यवस्थापिका की स्वीकृती आवश्यक है। संसदीय शासन-प्रणाली तथा अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली दोनों के अंतर्गत व्यवस्थापिका का वित्तीय स्थिति पर नियंत्रण रहता है। इंगलैंड की सरकारी वित्तीय स्थिति के संबंध में यह कहा जाता है कि सरकार धन की माँग करती है, कॉमन्स सभा स्वीकार करती है तथा लार्ड्स सभा उसका अनुसमर्थन करती है। यही स्थिति प्रायः सभी देशों में है।

4. विमर्शात्मक कार्य-व्यवस्थापिका एक विमर्शात्मक निकाय के रूप में भी काम करती है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रस्तुत किए गए सभी सरकारी प्रस्तावों पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद किया जाता है। व्यवस्थापिका सरकारी नीतियों पर भी वाद-विवाद करती है।

5. न्यायिक कार्य-कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं। अमेरिका में प्रतिनिधि सभा द्वारा राष्ट्रपति के विरूद्ध लगाए गए महाभियोग के प्रस्ताव के संबंध में द्वितीय सदन सिनेट न्यायालय की तरह सुनवाई करती है। ब्रिटेन में लार्ड्स सभा देश के सर्वोच्च न्यायालय के रूप में भी काम करती है, परंतु इस स्थिति में केवल कानूनी लॉर्ड ही भाग लेते हैं। स्विट्जरलैंड में राष्ट्रीय सभा संविधान की व्याख्या का कार्य करती है, इसलिए इसे न्यायिक कार्य की संज्ञा दी गई है।

6. विविध कार्य-उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त व्यवस्थापिका को और भी कई प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। संविधान में संशोधन, जनता की शिकायतों की सुनवाई तथा निवारण, राज्याध्यक्षों का चुनाव आदि भी व्यवस्थापिका के मुख्य कार्य है। स्विट्जरलैंड की राष्ट्रीय सभा मंत्रिपरिषद के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति की नियुक्ति करती है। व्यवस्थापिका को नियुक्ति के साथ-साथ पदच्युति का भी अधिकार है। भारत में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति सर्वोच्च एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को हटाने का प्रस्ताव व्यवस्थापिका द्वारा ही पारित होता है। अमेरिका में कांग्रेस ही राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग पारित कर सकती है। ब्रिटेन में कॉमेन्स सभा मंत्रिपरिषद को अविश्वास के प्रस्ताव पर अपदस्थ कर सकती है।

## 5.7 राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिका पतन के कारण

राजनीतिक व्यवस्थाओं में व्यवस्थापिका की भूमिका के संबंध में कई बातें आती हैं। यों तो प्रायः सभी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका रहती है, परंतु भूमिका के स्तर, भूमिका की गहराई आदि में भिन्नता पाई जाती है। उदाहरण के लिए, संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका की भूमिका सशक्त एवं प्रभावशाली रहती है। इंगलैंड की संसद के

बारे में कहा जाता है कि वह संप्रभु है। अतः, व्यवस्थापिकाओं की भूमिका को राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। राजनीतिक व्यवस्था के चार प्रतिमान हैं।-

(1) सांविधानिक या लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(2) स्वेच्छाचारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(3) सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्थाएँ,

(4) विकासशील देशों की राजनीतिक व्यवस्थाएँ।

हम अलग-अलग राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका का मूल्यांकन करेंगे।

**लोकतांत्रिक देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका**

सांविधानिक या लोकतांत्रिक राज्यों में व्यवस्थापिकाएँ प्रमुखतया राजनीतिक व्यवस्था के निवेशों ए निर्गतों तथा प्रतिसंभरणों के बीच संप्रेषक का कार्य करती है। दलीय अनुशासन के कारण नियम-निर्माण में इनकी भूमिका इतनी कम हो गई है कि इस क्षेत्र में व्यवस्थापिका मात्र औपचारिकता का निर्वाह करती है। यह स्पष्ट है कि आज व्यवस्थापिकाएँ सरकारी एवं सामान्य कार्यों की अपेक्षा राजनीतिक तथा व्यवस्था-संबंधी कार्यों को अधिक करने लगी है। अपनी विशिष्ट संरचना तथा प्रतिनिध्यात्मक प्रकृति के कारण व्यवस्थापिका राजनीतिक प्रक्रियाओं में केंद्रीय भूमिका निभाने की अवस्था में है। संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था में ये ही ऐसी संस्थाएँ हैं, जो जनप्रतिनिधि निकाय की हैसियत से संपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था को संचालित करने का अधिकार रखती हैं।

इस संबंध में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि राजनीतिक व्यवस्था में व्यवस्थापिका की भूमिका के अनेक नियामक है, जिनमें सबका उल्लेख करना सहज तथा संभव नहीं। राजनीतिक दल, दबावसमूह, विधायकों के आचरण, निर्वाचन-क्षेत्र तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक तत्त्व व्यवस्थापिका की भूमिका पर प्रभाव डालते हैं। हम कह सकते हैं कि लोकतंत्र में व्यवस्थापिका की भूमिका बहुत ही पेचीदे तथा एक-दूसरे से उलझे हुए परिवर्त्यों द्वारा नियमित होती हैं।

व्यवस्थापिका की भूमिका कार्यपालिका के प्रभाव एवं प्रभुत्व पर भी निर्भर करती है। संसदीय और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणालियों में व्यवस्थापिका का प्रभाव भिन्न होता है। संसदीय शासन-प्रणाली में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका का घनिष्ठ संबंध रहने के कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथक्करण के कारण अपने क्षेत्र में व्यवस्थापिका का पूर्ण प्रभाव रहता है।

यह स्पष्ट है कि व्यवस्थापिकाओं की भूमिका में शासनतंत्र की प्रवृत्ति एवं प्रकार का प्रभाव पड़ता है, परतु सभी देशों में व्यवस्थापिका की किसी-न-किसी प्रकार की भूमिका रहती है। यही कारण है कि सभी प्रकार की शासन-व्यवस्थाओं के

अंतर्गत व्यवस्थापिका का अस्तित्व रहता है। सांविधानिक व्यवस्था या लोकतंत्र के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका निम्नलिखित प्रकार की है-

(क) वैधीकरण की भूमिका -व्यवस्थापिका सत्ताधारकों को वैधता प्रदान करने की भूमिका अदा करती है। शासन को वैध करार करने की एकमात्र एजेंसी होने के कारण इसका विशेष महत्त्व है। व्यवस्थापिका की वैधीकरण की भूमिका के कारण ही हर शासन-व्यवस्था के शासक व्यवस्थापिका का गठन करना चाहते हैं न केवल लोकतंत्र में,वरन अधिनायक एवं सैनिक शासन भी व्यवस्थापिका के लिए निर्वाचन की घोषणा करते हैं।

(ख)अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका -व्यवस्थापिका अभिज्ञान की अनुभूति कराने की भूमिका करती है। सामान्यतः,सामान्य जनों की कोई विशिष्ट पहचान नहीं होती है। चुनाव के समय व्यवस्थापिका में निर्वाचित होने के लिए उम्मीदवार मतदाताओं से जा-जाकर संपर्क स्थापित करते हैं तथा मत माँगते हैं। इससे मतदाताओं को एहसास होता है कि वे व्यवस्थापिका के निर्माता हैं या उसके गठन में भाग लेते हैं। व्यवस्थापिका के माध्यम से समाज के आम आदमी को देश की सर्वोच्च नियम-निर्मात्री संस्था व्यवस्थापिका के साथ तादात्म्य या अभिज्ञान की अनुभूति होती है।

(ग)कांडो का पर्दाफाश करने वाली ऐजेंसी की भूमिका-देश में अनेक प्रकार की अनियमितताएँ तथा अनेक प्रकार के कांड होते रहते हैं। व्यवस्थापिका एक उचित फोरम है, जहाँ विभिन्न प्रकार के कांडों एवं घटनाओं का पर्दाफाश होता रहता है। इस प्रकार के कार्यों में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रहती है। अमेरिका का '**वाटरगेट कांड'**, इंगलैंड का '**परफ्यूमो कांड'**, भारत के मूँधड़ा कांड, जीप कांड आदि के पर्दाफाश में व्यवस्थापिका की प्रमुख भूमिका रही है।

अनेक विद्वान मानते हैं कि सांविधानिक शासन-व्यवस्था के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका का ह्रास हो रहा है। वे औपचारिक निकाय के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रही हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि आजकल कार्यपालिका की विस्तृत शक्तियों की पृष्ठभूमि में व्यवस्थापिका की भूमिका कमजोर होती जा रही है, परंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि व्यवस्थापिका बिल्कुल निष्क्रिय या अनुपयोगी हो गई है। आज व्यवस्थापिका को कई सीमाओं के अंतर्गत कार्य करना पड़ता है। उन पर अनेक दबाव होते हैं तथा उनके कार्यों एवं शक्तियों के अनेक नियामक होते हैं। इन सीमाओं तथा नियामकों के बावजूद व्यवस्थापिका की अपनी उपयोगिता है, अपनी भूमिका है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं के अंतर्गत व्यवस्थापिका का गठन किया जाता है।

**अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका**

आम तौर से यह देखा गया है कि अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकों के हितों की रक्षा करने में निहित रहती है। अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का गठन तो अवश्य किया जाता है, परंतु वह अधिनायकों के हाथ की कठपुतली रहती है। अधिकांश तानाशाह व्यवस्थापिका का गठन कर अपनी सत्ता पर वैधता की मुहर लगाने का प्रयास करते हैं।

विभिन्न अधिनायकवादी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका का विश्लेषण करने के बाद यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की भूमिका व्यवहार में अधिनायको की इच्छा पर निर्भर करती है। पाकिस्तान के अनेक सैनिक शासकों ने व्यवस्थापिका की वैधानिकता की ओट में अपनी शक्ति और सत्ता में वृद्धि की। आमतौर से यह देखा गया है कि प्रत्येक अधिनायक या सैनिक शासक ने तत्कालीन व्यवस्थापिका के दोषों को दूर करने के नाम पर सत्ता पर कब्जा किया तथा नए सिरे से व्यवस्थापिका के गठन की घोषणा की। तानाशाही देशों में व्यवस्थापिका का गठन तथा उसकी भूमिका मात्र औपचारिक होती है।

यह सत्य है कि तानाशाही शासनों में व्यवस्थापिकाएँ मात्र औपचारिकतावश गठित होती है तथा उनकी भूमिका भी अत्यधिक सीमित होती है। परंतु, ये व्यवस्थापिकाएँ भी लंबे दौरान में लोकतंत्र की माँग करती हुई पाई गई हैं। कभी-कभी ये व्यवस्थापिकाएँ अधिनायकों का विरोध करने वाले फोरम के रूप में परिवर्तित हो गई हैं। ये व्यवस्थापिकाएँ प्रत्यक्ष रूप से तानाशाही के विरूद्ध तो आवाज नहीं उठा पातीं, परंतु वहाँ से ऐसी प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जो लोकतंत्र की वापसी के लिए आंदोलन का रूप धारण कर लेती हैं। पाकिस्तान में लोकतंत्र की वापसी के आंदोलन में व्यवस्थापिका के अनेक सदस्यों की भी सक्रिय भूमिका रही है। बर्मा में भी व्यवस्थापिका ने इस प्रकार की भूमिका निभाई है।

अनेक अधिनायक अपना प्रभुत्व बनाए रखने हुए व्यवस्थापिका को सम्मान देते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यवस्थापिका के लिए किए गए चुनावों में उन्हें स्पष्ट बहुमत मिलता है। मार्शल टीटो, नेरेरे, फिडेल कैस्ट्रो, केनेथ कौण्डा, सादात आदि ऐसे शासक हुए हैं जिन्होंने अधिनायकवाद की सारी सुविधाओं को भोगते हुए अपनी सत्ता के वैधीकरण के लिए व्यवस्थापिका के प्रति सम्मान का भाव रखा।

निष्कर्षतः हम कह सकते है। कि अधिनायकवाद में व्यवस्थापिका का लोप नहीं होता, परंतु उसकी भूमिका अत्यधिक सीमित एवं औपचारिक हो जाती है। वस्तुतः, अधिनायकवाद के अंतर्गत व्यवस्थापिका की भूमिका मुख्यतया तानाशाह के व्यवस्थापिका के प्रति रवैये पर निर्भर करती है।

**सर्वाधिकारी देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका**

सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की तरह है और न ही तानाशाही राज्यों की तरह। भूतपूर्व सोवियत संघ, चीन तथा अन्य साम्यवादी राज्य सर्वाधिकारी राज्य की श्रेणी में आते हैं। इन राज्यों में व्यवस्थापिका के गठन का आधार वहीं होता है जो लोकतांत्रिक राज्यों में होता है, यद्यपि एकदलीय प्रभुता के कारण व्यवस्थापिका में चुनाव का तत्त्व मात्र औपचारिक तत्त्व बनकर रह जाता है।

भूतपूर्व सोवियत संघ के संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया था, "राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अंग सर्वोच्च सोवियत होगी।" साम्यवादी देशों की व्यवस्थापिकओं के गठन में सैद्धांतिक स्तर पर वहाँ की जनता चुनाव में सहभागी होती है, मतदान करती है। एक दल के होने के कारण दूसरे दल का कोई उम्मीदवार नहीं होता, इसलिए चुनाव मात्र औपचारिक

या दिखावा बनकर रह जाता है। सोवियत संघ में साम्यवादी दल सर्वोच्च सोवियत के सदस्यों के नामों की घोषणा करता था और वे व्यक्ति निर्विरोध सर्वोच्च सोवियत के सदस्य निर्वाचित हो जाते थे। एक प्रकार से सर्वोच्च सोवियत के सदस्य साम्यवाद दल के मनोनीत सदस्य होते थे।

जहाँ एक सर्वाधिकारी राज्यों में व्यवस्थापिका की भूमिका का प्रश्न है, सैद्धांतिक रूप से उसकी वही भूमिका निदेशित है, जो लोकतांत्रिक और सांविधानिक राज्यों की है। परंतु, जब हम व्यवस्थापिका के कृत्यों एवं शक्तियों का व्यवहार में प्रयोग देखते हैं, तब हमारे सम्मुख दूसरा चित्र उभरता है।

सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत को वे सारी शक्तियाँ प्राप्त थीं, जो लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिका को प्राप्त हैं। सोवियत संघ में सर्वोच्च सोवियत के अंतर्गत विरोधी दल के अभाव के कारण विधिनिर्माण या अन्य प्रकार के प्रस्तावों को पारित होने तथा वाद-विवाद की प्रक्रिया मात्र औपचारिकता थी। सर्वोच्च सोवियत की सारी प्रक्रियाएँ साम्यवादी दल के निर्देशानुसार संचालित होती थीं। सर्वोच्च सोवियत केवल उन्हीं प्रस्तावों को पारित करती थी, जिन्हें साम्यवादी दल निदेशित करती थी। यह स्थल एक नाट्यस्थल का रूप धारण करता था, जहाँ हर पात्र साम्यवादी दल के निर्देश के अनुसार अपना-अपना पार्ट अदा करता था। टाउस्टर के कथनानुसार, "सर्वोच्च सोवियत एक अनुसमर्थक एवं प्रचारक निकाय के रूप में काम करती है।"

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सर्वाधिकारी राज्य में व्यवस्थापिका की भूमिका अधिनायकवादी राज्य की भाँति अत्यधिक सीमित रहती है। साम्यवादी राज्यों में साम्यवादी दल का प्रभुत्व एवं प्रभाव सर्वव्यापक रहता है। शासन के समस्त अंगों पर दल का नियंत्रण रहता है और सभी अंग दल के नियंत्रण एवं निदेशन में काम करते है। इसलिए व्यवस्थापिका स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका अदा नहीं कर सकती।

**विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की भूमिका**

विकासशील देशों में व्यवस्थापिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। विकासशील देश राजनीतिक आधुनिकीकरण और राजनीतिक विकास के मार्ग पर पिछड़े हुए है। राजनीतिक विकास के जो प्रमुख लक्षण हैं उनका भी विकासशील देशों में अभाव है। अतः हम पाते हैं कि कई दृष्टियों से विकासशील देश पिछड़े हुए हैं। सभी विकासशील देशों में व्यवस्थापिका का एक प्रकार का मॉडेल नहीं है। कुछ विकासशील देशों ने पश्चिम के उदारवादी लोकतंत्र के मॉडलों को अपनाया है तथा कुछ विकासशील देशों ने साम्यवादी देशों के प्रतिमानों या मॉडेलों को प्रश्रय दिया है। सच्चाई यह है कि विकासशील देश मॉडलों के झमेले में पड़े हुए हैं। इन्होंने अपने-अपने ढंग के प्रतिमानों या मॉडलों को अपना तो लिया है, परंतु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का वहाँ अभाव है।

प्रारंभिक दिनों में विकासशील देशों ने व्यवस्थापिका को सुव्यवस्थित रूप देने तथा उदारवादी लोकतांत्रिक परंपराओं के अनुसार उसे संचालित करने का प्रयास किया। उदाहरण के लिए भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद प्रारंभिक पंद्रह वर्षों तक व्यवस्थापिका की आदर्श भूमिका रही, परंतु बाद के दिनों में व्यवस्थापिका के स्वरूप एवं कार्यचालन में विकृति

पैदा हो गई। इन दिनों व्यवस्थापिका हंगामा का एक स्थल बन गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत सरकार एवं विरोधी दल के बीच मतभेद इतना गहरा हो गया है कि वहाँ होने वाले प्रदर्शन निम्नस्तरीय होने लगे हैं। आए दिन व्यवस्थापिका के सदनों में शोर-शराबा, हंगामा और हाथापाई की घटनाएँ भी घटने लगी हैं।

विकासशील देशों में जनमत का स्परूप इतना कमजोर है कि वहाँ की जनता व्यवस्थापिका की उपयोगिता उस मात्रा में तथा उस ढंग से नहीं कर सकती, जिस मात्रा में तथा जिस सीमा में अपेक्षा की जाती है। अनेक लोग व्यवस्थापिका के अंतर्गत राजनीतिक दल तथा राजनीतिक लोगों के भद्दे एवं अशोभनीय प्रदर्शन के कारण व्यवस्थापिका को निरर्थक एवं अनुपयोगी मानने लगे हैं। जनसंख्या का अधिक भाग अशिक्षित एवं अज्ञानी होने के कारण वे व्यवस्थापिका के गठन और भूमिका में कम-से-कम दिलचस्पी लेते हैं, इसलिए व्यवस्थापिका का चुनाव ढकोसला बनता जा रहा है।

अधिकांश विकासशील देशों के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि विकासशील राज्यों में व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाए रखने के लिए आवश्यक एवं अनुरूप राजनीतिक संस्कृति का विकास नहीं हो पाया है। इसके फलस्वरूप विकासशील देशों में व्यवस्थापिकओं की भूमिका न तो उदारवादी लोकतांत्रिक देशों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है और न ही सर्वाधिकारी राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की तरह हो पाई है। मॉडेलों के संदर्भ में विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाएँ 'अँधेरे में टटोलने' का काम कर रही हैं।

पिछले दिनों विकासशील देशों में राजनीतिक दलों तथा दबावसमूहों के संबंध में अनेक भ्रांतियाँ तथा अनेक विरोधाभास उभरे हैं और फैले हैं, जिसके कारण भी व्यवस्थापिकाओं की भूमिका स्पष्ट नहीं हो पाई है। व्यवस्थापिका के गठन तथा उसके कार्यचालन के संबंध में राजनीतिक दलों की जो भूमिका होनी चाहिए, वह अभी तक विकासशील देशों में नहीं उभर पाई है। इस स्थिति में यह कहा जाना स्वाभाविक है कि विकासशील देशों में सहभागिता के अभिकरण के रूप में व्यवस्थापिकाओं की भूमिका और उपयोगिता के बारे में लोगों में संदेह बना रहता है। विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ सामान्य सरकारी कार्यों के संपादन में असफल तो हुई हैं, राजनीतिक कार्यों में भी इसकी उपयोगिता संदेहास्पद रही है।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि विकासशील देशों में व्यवस्थापिका निरर्थक और अनुपयोगी है। कई देशों में इसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठापित करने के प्रयास किए जा रहे हैं, यद्यपि अधिकांश विकासशील देशों में व्यवस्थापिकाएँ प्रभावहीन ही सिद्ध हुई है। कई लोगों ने विकासशील देशों में व्यवस्थापिका के उज्जवल भविष्य की भविष्यवाणी की है। विकासशील देशों की व्यवस्थापिकाओं के कार्यचालन के संबंध में निश्चितरूप से कुछ कहना तो संभव नहीं प्रतीत होता, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वहाँ अभी व्यवस्थापिकाएँ की भूमिका सुव्यवस्थित नहीं है।

अधिकांश विकासशील देशों ने असंलग्नता की नीति अपनाई है। इसके कारण भी उन्हें कठिनाई हो रही है, क्योंकि उन पर किसी निश्चित शासन-प्रणाली या किसी निश्चित मॉडेल का सुस्पष्ट प्रभाव नहीं है। इन कठिनाईयों के बावजूद कई विकासशील देश व्यवस्थापिका को प्रभावी बनाने के निमित्त प्रयत्नशील हैं

**व्यवस्थापिकाओं का पतन**

अनेक विद्वानों का मत है कि बीसवीं शताब्दी में व्यवस्थापिकाओं का निश्चित रूप से पतन हुआ है। लॉर्ड ब्राइस ने अपनी पुस्तक '**मॉडर्न डेमोक्रेसीज**' में एक विशेष अध्याय के अंतर्गत व्यवस्थापिका के पतन की स्थिति की व्याख्या की। ब्राइस ने पतन के कारणों का उल्लेख तो किया है, परंतु वह उसकी पूर्ण बथा स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाया है। के0 सी0 व्हीयर ने अपनी पुस्तक 'लेजिस्लेचर' ( Legislature) में आधुनिक युग में व्यवस्थापिकाओं के पतन के संबंध में एक अध्याय जोड़ा है। व्हीयर ने व्यवस्थापिका के पतन के संबंध में कई प्रश्न उठाए हैं। उदाहरण के लिए, व्हीयर के निम्नलिखित मुख्य प्रश्न हैं:

(1) क्या व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास हुआ है ?

(2) क्या व्यवस्थापिका की कार्यक्षमता में कमी आई है ?

(3) क्या व्यवस्थापिका में जनता की रूचि कम हुई है ? इत्यादि।

व्यवस्थापिका की शक्तियों में किस सीमा तक पतन हुआ है यह कहना तो कठिन है, परंतु इतना कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका की स्थिति में अवनति हुई है। अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका के अधिकार पर कब्जा कर लिया है। विधिनिर्माण व्यवस्थापिका की एकमात्र जिम्मेदारी है, परंतु संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि निर्माण की जिम्मेदारी मंत्रिपरिषद की समझी जाती है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि बीसवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की शक्ति में कमी आई है।

**पतन के कारण**

व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों और महत्त्व में कमी होने का कोई एक कारण नहीं है। इसके अनेक कारण हैं। यहाँ हम उनमें से कुछ कारणों का उल्लेख करेंगे-

1.व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास होने का सबसे बड़ा कारण कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि है। कार्यपालिका ने निश्चित रूप से व्यवस्थापिका की कई शक्तियों को हड़प लिया है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत संसद को आहत, सत्रावसित तथा विघटित करने का अधिकार कार्यपालिका को प्राप्त है। साथ-ही-साथ विधेयकों को प्रस्तावित करने का अधिकार भी कार्यपालिका को है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत शक्तियों के पृथक्करण के कारण व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पृथक-पृथक है, फिर भी कार्यपालिका व्यवस्थापन-प्रक्रिया को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस द्वारा पारित विधेयकों के संबंध में निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार, हम पाते हैं कि कार्यपालिका की बढ़ती हुई शक्तियों ने व्यवस्थापिका की शक्तियों और स्थिति में कमी लाई है।

2. प्रदत्त विधायन के कारण भी व्यवस्थापिका की स्थति में ह्रास हुआ है। कई कारणों से व्यवस्थापिका ने अनेक क्षेत्रों में कार्यपालिका को विधिनिर्माण का कार्यभार सौंप दिया है।

3. रेडियो, टेलिविजन तथा संचार के नए-नए साधनों के कारण कार्यपालिका जनता के सीधे संपर्क में आ गई है जिसके कारण व्यवस्थापिका का प्रभाव कम हो गया है। आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका की उपेक्षा करके जनता से सीधे और प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित कर लेता है जबकि प्राचीनकालमेंमुख्य कार्यपालक व्यवस्थापिका के माध्यम से जनता तक पहुँच पाता था।

4. एल0 एन0 बॉल ने लिखा है, "बीसवीं शताब्दी में बड़े- बड़े अनुशासित दलों के विकास तथा कार्यपालिका शक्ति की वृद्धि के कारण व्यवस्थापिका के पतन या ह्रास की चर्चा एक सामान्य बात हो गई है। अनुशासित राजनीतिक दलों के कारण विधायकों का महत्त्व कम हो गया है। व्यवस्थापिका के अंतर्गत प्रत्येक राजनीतिक दल का सचेतक आदेश जारी करता है। जिसके अनुसार विधायक किसी भी विधेयक या प्रस्ताव पर मतदान करते हैं। फलस्वरूप, विधेयकों या प्रस्तावों के मतदान पर कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका के सदस्यों को निदेशित एवं नियंत्रित करती है।

5. दबाव एवं हित-समूहों के बढ़ते प्रभाव के कारण व्यवस्थाकिा की स्थिति में कमी आई है। आज अधिकांश विधेयक दबाव एवं हित-समूहों के कारण पारित होते हैं या दब जाते हैं। कार्यपालिका बहुत-सा निर्णय व्यवस्थापिका की सम्मति के बिना दबाव व हित-समूहों के दबाव या प्रभाव में आकर ले लेती हैं। दबाव एवं हित-समूहों का संगठन इतना सशक्त रहता है कि उनसे संबंधित सरकार के निर्णय जब प्रस्ताव के रूप में व्यवस्थापिका के सम्मुख आते हैं, तब उसे अनुसमर्थन या स्वीकृति देनी पड़ती है।

6. न्यायालय द्वारा व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधता जाँच करने की शक्ति के कारण के व्यवस्थापिका के प्रभाव में कमी आई है। अमेरिका तथा भारत में न्यायालय व्यवस्थापिका के अधिनियमों की वैधानिकता को जाँचकर उसे अवैध या असांविधानिक घोषित कर सकता है।

7. युद्ध और संकट की स्थिति में राज्याध्यक्ष को असाधारण शक्तियों को प्रयोग करने का अधिकार है। राज्याध्यक्ष युद्ध और संकट के समय सेना पर तो नियंत्रण रखता ही है, वह असाधारण निर्णय भी ले सकता है। युद्ध और संकट में लिए गए निर्णयों की सूचना मात्र व्यवस्थापिका को दे दी जाती है। कई स्थितियों में व्यवस्थापिका को सैनिक दृष्टिकोण से गोपनीय सूचनाओं से वंचित रखा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब युद्ध और संकट में कार्यपालिका ने व्यवस्थापिका की उपेक्षा की। अमेरिका के राष्ट्रपति ने वियतनाम युद्ध के दौरान कांग्रेस की सम्मति के बिना अनेक निर्णय लिए।

8. वैदेशिक मामलों के संचालन में व्यवस्थापिका की भूमिका अति सीमित या औपचारिक रहती है। वैदेशिक मामलों में सारे निर्णय कार्यपालिका के प्रधान द्वारा लिए जाते हैं। व्यवस्थापिका उन पर मात्र स्वीकृति की मुहर लगाती है। वैदेशिक मामलों में मुख्य कार्यपालकों के बीच सीधा संपर्क होने के लिए रूस और अमेरिका के बीच हॉट लाइन लगाई गई थी।

9. लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य है नागरिकों का सर्वांगीण विकास। नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए सरकार को सभी क्षेत्रों में कार्य करना पड़ता है। 'पालने से कब्र' तक राज्य नागरिकों को सेवा प्रदान करता है। इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य में कार्यपालिका के कार्यो में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और अनेक क्षेत्रों में उसे स्वविवेक प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। फलस्वरूप, कई स्थितियों में कार्यपालिका व्यवस्थापिका की अवहेलना करती है। इस तरह लोककल्याणकारी राज्य के उदय के कारण व्यवस्थापिका की स्थिति और भूमिका में कमी आई है।

10. आज का युग संकट का युग है। आए दिन संकट के बादल मँडराते हैं, जिसके कारण सरकार तथा नागरिक दोनों ही चिंता और तनाव की स्थिति में रहते हैं। युद्ध, आंतरिक संघर्ष तथा अन्य प्रकार के संकटों के कारण उत्पन्न असुरक्षा की भावना ने नागरिकों को अधिक-से-अधिक कार्यपालिका पर निर्भर होने के लिए विवश कर दिया है। इस कारण भी व्यवस्थापिका के महत्त्व में कमी आ गई है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिकाओं की शक्तियों एवं प्रभाव में ह्रास हुआ है।

अभ्यास प्रश्न

**1. व्यवस्थापिका का निम्न में से कौन-सा कार्य है?**

a. विधि निर्माण b. कार्यपालिका पर नियंत्रण

c. निर्वाचन संबंधी d. उपर्युक्त सभी

**2. विधानमण्डल के पतन का कौन-सा कारण नहीं है?**

a. कार्यपालिका का बढ़ता कार्य क्षेत्र b. प्रदत्त विधायन

c. दलिय पद्धति d. उपर्युक्त सभी

## 5.8 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में व्यवस्थापिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। व्यवस्थापिका का सर्वप्रमुख कार्य विधि निर्माण, विचार विमर्श, वित्त संबंधी, कार्यपालिका पर नियंत्रण, निर्वाचन संबंधी, जनमत की अभिव्यक्ति एवं संविधान में संशोधन प्रमुख उत्तरदायित्व है अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए व्यवस्थापिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

## 5.9 शब्दावली

व्यवस्थापिका-सरकार के तीन अंग हैं-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। कार्यों की प्रकृति एवं सार्वजनिक उत्तरदायित्व के दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका तीनों अंगों में सर्वोच्च है। व्यवस्थापिका का कार्य है-विधिनिर्माण करना। तुलनात्मक राजनीति की आधुनिक शब्दावली के अंतर्गत व्यवस्थापिका के स्थान पर नियम-निर्माण विभाग का प्रयोग किया जाता है।

एक सदनीय व्यवस्थापिका- जिन राज्यों की व्यवस्थापिका में एक सदन होता है वह एक सदनीय व्यवस्थापिका कहलाती है।

द्विसदनीय व्यवस्थापिका- जब व्यवस्थापिका में दो सदन होते है तो उसे द्विसदनीय व्यवस्थापिका कहा जाता है।

## 5.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.उपर्युक्त सभी, 2. दलीय पद्धति

## 5.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

## 5.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

## 5.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.व्यवस्थापिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. व्यवस्थापिका के गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए

# इकाई 6- कार्यपालिका

इकाई की रुपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 कार्यपालिका का अर्थ

6.4 कार्यपालिका के प्रकार

6.5 कार्यपालिका के कार्य

6.6 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

6.7कार्यपालिका व्यवस्थापिका में संबंध

6.8 सारांश

6.9 शब्दावली

6.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

6.11सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

6.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

6.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 6.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक कार्यपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए कानूनों कोलागू करना होता है। कार्यपालिका शासन का वह अंग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को लागू करती है।

## 6.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- कार्यपालिका व्यवस्थापिका संबंधों का तुलनात्मक अध्ययन करना है।

## 6.4 कार्यपालिका का अर्थ

कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है। कार्यपालिका का दो अर्थ में प्रयोग किया जाता है: व्यापक अर्थ में तथा संकुचित अर्थ में। व्यापक अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते हैं, जिनका संबंध प्रशासन से होता है। संकुचित अर्थ में कार्यपालिका के अंतर्गत वे सभी कर्मचारी आते है, जिनका संबंध नीति-निर्माण तथा उसके कार्यन्वयन से है। अमेरिका में राष्ट्रपति तथा उसके सचिव उसके अंतर्गत आते हैं। पलेम्बरा ने सरकार, कार्यपालिका और नौकरशाही में अंतर बरता है। मैक्रीडिस ने कहा है कि राजनीतिक कार्यपालिका राजनीतिक समाज के शासन के लिए औपचारिक उत्तरदायित्व निभानेवाली संस्थागत व्यवस्था है। आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान के अंतर्गत कार्यपालिका में कार्यपालिका के प्रधान तथा मंत्रिमंडल को लिया जाता है। असैनिक सेवा तथा इस स्तर के कर्मचारी कार्यपालिका के अंतर्गत नहीं आते हैं।

## 6.5 कार्यपालिका के प्रकार

आधुनिक युग में कार्यपालिका के कई प्रकार हैं। अलग-अलग राज्य में कार्यपालिका के अलग-अलग प्रकार हैं। आधुनिक कार्यपालिका के मुख्यतः निम्नलिखित रूप हैं-

(क) **राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका** - यों तो संकुचित दृष्टिकोण से कार्यपालिका के अंतर्गत असैनिक सेवा के सदस्य नहीं आते, फिर कार्यपालिका का वर्गीकरण राजनीतिक और स्थायी कार्यपालिका में किया जाता है। राजनीतिक कार्यपालिका वह कार्यपालिका है, जो निर्वाचित होती है तथा जो एक निश्चित अवधि के लिए अपने पद पर बनी रहती है। इसके विपरीत स्थायी कार्यपालिका वह कार्यपालिका है जो स्थायी है तथा जिसका निर्वाचन से कोई संबंध नहीं है। स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक दृष्टि से तटस्थ रहती है।

(ख) **नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका** - जब कार्यपालिका केवल नाममात्र का प्रधान होती है, तब उसे नाममात्र की कार्यपालिका कहा जाता है। इसे सांविधानिक कार्यपालिका भी कहा जाता है। संसदीय शासन-प्रणाली में

नाममात्र की तथा वास्तविक दोनों प्रकर की कार्यपालिका होती है। ब्रिटेन का सम्राटतथा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण हैं। ये दोनों अपने-अपने राज्य के मात्र सांविधानिक प्रधान हैं।

जब कार्यपालिका सांविधानिक दृष्टिकोण से प्रधान नहीं होते हुए भी यथार्थ में प्रधान होती है, तब उसे वास्तविक कार्यपालिका कहा जाता है। ब्रिटेन एवं भारत का मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका के उदाहरण हैं। अमेरिका का राष्ट्रपति तथा फ्रांस का राष्ट्रपति सांविधानिक एवं वास्तविक दोनों कार्यपालिका के मिश्रण हैं।

(ग) **एकल और बहुल कार्यपालिका** - जब कार्यपालिका की शक्तियाँ एक निश्चित व्यक्ति के हाथ में निहित होती हैं, तब उसे एकल कार्यपालिका कहा जाता है। इंग्लैण्ड, अमेरिका तथा फ्रांस में एकल कार्यपालिका है।

जब कार्यपालिका की शक्तियाँ किसी एक व्यक्ति में निवास न कर कुछ व्यक्तियों के समूह में निवास करती है तब उसे बहुल कार्यपालिका कहा जाता है। स्विट्जरलैण्ड की संघीय परिषद तथा सोवियत रूस की प्रेजीडियम बहुल कार्यपालिका के उदाहरण है। स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियत रूस में कार्यपालिका की शक्तियाँ सभी सदस्यों में समान से बँटी हुई हैं। इन संस्थाओं का प्रधान मात्र औपचारिक प्रधान होता है। उसे किसी भी प्रकार का विशेष अधिकार प्राप्त नहीं होता।

(घ) **संसदीय एवं अध्यक्षात्मक कार्यपालिका** - संसदीय और अध्यक्षात्मक प्रणालियों में कार्यपालिका के स्वरूप भिन्न होते हैं। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका दो प्रकार की होती है-सांविधानिक और वास्तविक। वास्तविक कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। भारत और ब्रिटेन में मंत्रिमंडल वास्तविक कार्यपालिका है और व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के प्रति उत्तरदायी होती है। वास्तविक कार्यपालिका में ही वास्तविक शक्तियाँ निहित रहती है।

अध्यक्षात्मक कार्यपालिका सांविधानिक और वास्तविक एक ही होती है। साथ-ही-साथ वह व्यवस्थापिका के किसी भी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होती। अमेरिका का राष्ट्रपति अध्यक्षात्मक कार्यपालिका का उदाहरण है। वह यथार्थ रूप में वास्तविक शक्तियों का प्रयोग करता है। वह तथा उसके सचिव कांग्रेस के किसी सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। इसके साथ ही वह राज्य का प्रधान भी होता है।

## 6.6 कार्यपालिका के कार्य

प्राचीन काल में जब राज्य का स्वरूप सैनिक राज्य का था तब कार्यपालिका के कार्य समिति थे, परंतु आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के कार्यों के क्षेत्र एवं प्रकृति में मौलिक अंतर हुआ है। साथ-ही-साथ उसके कार्यों में वृद्धि भी हुई है। आधुनिक राज्य में कार्यपालिका के निम्नलिखित मुख्य कार्य हैं-

प्रशासकीय कार्य - कार्यपालिका के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्रशासकीय कार्य हैं। कार्यपालिका अपने देश की सीमा के अंतर्गत विधियों को लागू करती है, प्रशासन की विभिन्न एजेंसियों को गठित करती है तथा उनके लिए

पदाधिकारियों की नियुक्ति करती है। कार्यपालिका प्रशासन के विभिन्न विभागों एवं एजेंसियों के बीच सांमजस्य स्थापित करती है। संक्षेप में, आंतरिक दृष्टि से कार्यपालिका कानूनों को लागू करने, प्रशासन का निर्देशन, निरीक्षण एवं नियंत्रण करने तथा प्रशासन के विभिन्न विभागों एंव एजेंसियों के बीच ताल-मेल रखने तथा कानून और व्यवस्था बनाए रखने का कार्य करती है।

कूटनीतिक कार्य - कार्यपालिका कूटनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है। इसके अंतर्गत विदेशी मामले भी आ जाते हैं। आधुनिक युग में विदेशी क्षेत्रों में कार्यपालिका के कार्य बढ़ गए हैं। वह विदेशों में भेजे जाने वाले राजदूतों एवं राजनयिकों की नियुक्ति करती है तथा विदेशों से आने वाले राजदूतों का प्रमाणपत्र ग्रहण करती है। विदेशों के साथ संधि एवं समझौते करने तथा उन्हें लागू करने में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। संधियों एवं समझौते से विदेशों के साथ आर्थिक, राजनीतिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने की जिम्मेदारी भी कार्यपालिका की ही है।

सैनिक कार्य - आधुनिक युग में मुख्य कार्यपालक को ही सेना का प्रधान कहा जाता है। भारत का राष्ट्रपति सेना के तीनों अंगों का सर्वोच्च सेनापति है। कार्यपालिका ही सेना के प्रधानों की नियुक्ति करती है तथा उसे युद्ध या अन्य प्रयोजनों के लिए आदेश देती है। युद्ध, युद्धविराम की घोषणा करना भी कार्यपालिका के ही कार्य हैं।

विधायिनी कार्य - कार्यपालिका विधायिनी कार्यों का भी संपादन करती है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत तो विधिनिर्माण की वास्तविक जिम्मेदारी कार्यपालिका की होती है। विधेयकों को प्रस्तावित करने से लेकर उन्हें पारित करने की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। विधिनिर्माण में सहभागी होने के साथ-साथ कार्यपालिका अध्यादेश भी जारी करती है।

अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में शक्तियों के पृथकरण के कारण कार्यपलिका सक्रिय रूप से विधि निर्माण की प्रक्रियाओं में तो भाग नहीं लेता, पंरतु संदेश भेजने के अधिकार एवं निषेधाधिकार के कारण वह विधायन की प्रक्रिया को प्रभावित करती है।

आधुनिक युग में प्रदत्त विधायन के कारण भी विधायिनी क्षेत्र में कार्यपालिका की भूमिका सक्रिय एवं महत्त्वपूर्ण हो गई है।

वित्तीय कार्य - देश की वित्तीय व्यवस्था के प्रबंध एवं संचालन की जिम्मेदारी कार्यपालिका की है। देश के आय-व्यय के लिए बजट बनाने तथा विधानमंडल के सामने उसे प्रस्तुत करने, विधायिका द्वारा स्वीकृत राजस्व की राशि को वसूलने, उनका आबंटन करने, तथा प्रशासन के संबंध में आवश्यक व्यय करने का अधिकार कार्यपालिका के हैं। कार्यपालिका नए टैक्स लगाने, पुराने टैक्सों में संशोधन करने या उठने का प्रस्ताव विधायिका के सम्मुख रखती है। कार्यपालिका देश की संचित निधि का संरक्षक होती है। विधायिका की स्वीकृति के अभाव में वह आकस्मिक निधि से राशि निकालकर भी व्यय कर सकती है।

न्यायिक कार्य - कार्यपालिका को न्यायिक कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है, न्यायालय द्वारा दंडित व्यक्तियों के दंड को कम कर सकती है, स्थगित कर सकती है तथा क्षमा प्रदान कर सकती है।

अन्य कार्य - कार्यपालिका को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कई अन्य प्रकार के कार्यों का भी संपादन करना पड़ता है। देश के आर्थिक एंव व्यापारिक विकास में भी कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। कार्यपालिका को संकटकालीन स्थितियों में कुछ विशेष प्रकार के कार्यों का संपादन करना पड़ता है। उस समय वह असामान्य शक्तियों का भी प्रयोग करती है। उदाहरण के लिए, भारत की कार्यपालिका को संकटकालीन स्थिति का मुकाबला करने के लिए संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। फ्रांस में भी कार्यपालिका को आपातकालीन शक्तियाँ प्राप्त हैं।

राजनीतिक कार्य - आधुनिक युग में कार्यपालिका सांविधानिक कार्यों के अतिरिक्त कतिपय राजनीतिक कार्यों का भी संपादन करती है।

## 6.7 कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि के कारण

आज कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो रही है। आज राज्य का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो कार्यपालिका के प्रभाव तथा नियंत्रण से परे हो। आधुनिक काल में कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि के निम्नलिखित मुख्य कारण हैं-

लोक-कल्याणकारी राज्य का उदय - लोक-कल्याणकारी राज्य के उदय ने कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि का अवसर प्रदान किया है। लोक-कल्याणकारी राज्य में राज्य हर क्षेत्र में हस्तक्षेप करता है, फलतः कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होना स्वभाविक है।

**व्यवस्थापिका की अक्षमता** - आधुनिक युग में कई कारणों से विधायिका अपने कार्यों के संपादन में अक्षम या असमर्थ हो गई है। नए वैज्ञानिक आविष्कारों तथा तकनीकी विषयों के कारण विधायिका विधिनिर्माण के कार्य में या कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने के क्रम में अपना पूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकती। दलीय मतभेद के कारण भी व्यवस्थापिका सभी प्रकार के विषयों पर विधेयक बनाने में असमर्थ होती है। दूसरी ओर दलगत अनुशासन के कारण सरकारी पार्टी सरकार के विरूद्ध प्रस्ताव नहीं पारित कर पाती है। कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है।

**आर्थिक एवं औद्योगिक विकास** - आधुनिक राज्य आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है। आज के राज्य में आर्थिक एवं औद्योगिक विकास सर्वप्रथम प्राथमिकता है। आर्थिक विकास के प्रयत्नों के कारण कार्यपालिका के कार्यों का विस्तार हो रहा है। यही कारण है कि विश्व के अधिकांश देशों में कार्यपालिका आर्थिक योजनाएँ बनाती है तथा उन्हें कार्यान्वित करती है।

**राष्ट्रीय संकट** - राष्ट्रीय संकट के समय कार्यपालिका के कार्यों एवं दायित्वों में अप्रत्याशित रूप से वृद्धि हो जाती है। संकटकाल में अनेक कार्य उभरते हैं जिनमें कार्यपालिका की सहभागिता हो जाती है। संकटकाल के कारण कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि होती है।

**दलगत अनुशासन** - दलगत अनुशासन के कारण भी कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हुई है। संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत यद्यपि कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाई गई है, तथापि व्यवहार में दलगत अनुशासन के कारण व्यवस्थापिका कार्यपालिका के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नहीं पारित कर सकती। अध्यक्षात्मक प्रणाली के अंतर्गत भी दलीय अनुशासन के कारण मुख्य कार्यपालक विधायन को प्रभावित करता है।

**नियोजन** - आज प्रायः सभी राज्यों में नियोजन की व्यवस्था है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में कार्यपालिका के कार्य एवं दायित्व अधिक हो जाते हैं।

**वैदेशिक संबंध एवं वैदेशिक नीति** - वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य के अंतरराष्ट्रीय संबंधों एवं वैदेशिक नीति के क्षेत्र व्यापक होता जा रहा है। वैदेशिक मामले की पेचीदगियों के कारण कार्यपालिका की पकड़ वैदेशिक मामलों में बढ़ती जा रही है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने कहा था, ''राष्ट्रपति की शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति वैदेशिक संबंधों पर उसका नियंत्रण है।'' विदेशी मामलों में गोपनीयता की आवश्यकता होती है। इसलिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका की सहमति के बिना या उसे सूचना दिए बिना अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में स्वविवेक से निर्णय ले लेती है। भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा ताशकंद समझौता तथा श्रीमती इंदिरा गाँधी का शिमला समझौता इस बात की पुष्टि करती है कि वैदेशिक मामलों का संचालन कार्यपालिका का विशेषाधिकार है।

**संचार साधनों एवं प्रचार की भूमिका** - संचार के साधनों के विकास के कारण कार्यपालिका का जनता से सीधा संपर्क हो गया है। रेडियो, टेलिविजन, फिल्म आदि माध्यमों से कार्यपालिका अपनी बातों तथा अपनी नीतियों को जनता के सामने रख सकती है, इसलिए वह बिना किसी माध्यम में जनता के प्रति उत्तरदायित्व निभाने लगी है। इस सीधे संपर्क के कारण कार्यपालिका की शक्तियों एवं कार्यों में वृद्धि हुई है। एलेन बाल ने कहा है, ''जनसंपर्क माध्यमों के उपयोग करने का अवसर तथा प्रचार की सुविधा कार्यपालिका की शक्ति को मजबूत बनानेवाला महत्त्वपूर्ण घटक है।'' अमेरिका में टेलिविजन के माध्यम से राष्ट्रपति जनता से सीधा संपर्क स्थापित करने में समर्थ हुआ है। अन्य देशों में भी मुख्य कार्यपालिका रेडियो या टेलिविजन के माध्यम से प्रत्यक्ष ढंग से जनता को संबोधित करता है तथा अपना संदेश प्रसारित करता है।

शासन की धुरी - कार्यपालिका आज अधिकांश देशों में शासन की धुरी के रूप में काम करती है। समस्त प्रशासकीय यंत्र कार्यपालिका के इर्द-गिर्द घूमती है। ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के संबंध में कहा गया है, ''यह वह धुरी है जिसके चारों ओर संपूर्ण राजनीतिक चक्र घूमता है।'' आज कार्यपालिका शासन के सभी अंगों के बीच समन्वय स्थापित करने का भी कार्य करती है। फलतः, कार्यपालिका के कार्यों की सूची में वृद्धि होना स्वभाविक है।

विधायिका के भंग करने की शक्ति - विधायिका को भंग करने की क्षमता के कारण भी कार्यपालिका ने अपनी शक्तियों में वृद्धि कर ली है। संसदीय-प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करवा सकती है, इसलिए व्यवस्थापिका इसके निर्णयों के चुनौती नहीं देती। इस स्थिति का लाभ उठाकर कार्यपालिका अधिक-से-अधिक क्षेत्रों में टांग अड़ाती है।

पिछले वर्षों में कार्यपालिका के अधिक-से-अधिक शक्तियों से सुसज्जित करना तथा अधिक-से-अधिक कार्यों से भर देना एक सामान्य प्रवृत्ति हो गई है। वर्तमान तनाव और संकट की मनःस्थिति के युग में लोग अपनी तथा देश की सुरक्षा के लिए कार्यपालिका पर अधिक-से-अधिक निर्भर रहना चाहते हैं। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी देशों में संवैधानिक संशोधनों के द्वारा कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि है। लिप्सन ने कहा है, मतदाताओं द्वारा राज्य को सौंपा गया प्रत्येक नया कर्तव्य, शासन द्वारा प्राप्त की गई प्रत्येक अतिरिक्त कार्यों ने कार्यपालिका की सत्ता और महत्त्व में वृद्धि की है।'' कार्यपालिका तथा मुख्य कार्यपालक का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि संपूर्ण राजनीति व्यवस्था में वह चेतना-केंद्र हो गई है। अनेक कारणों से कार्यपालिका राजनीतिक मंच का रिंग-मास्टर बन गई है। ला पालम्बरा ने कहा है, ''कार्यपालिका के शक्ति में वृद्धि का कारण उसकी चालबाजी, जोड़ एवं कपट-प्रबंध करने की क्षमता तथा योग्यता है।''

## 6.8 कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में संबंध

कार्यपालिका की भूमिका, उसकी शक्तियों एवं कार्यों में विस्तार आदि की चर्चा करने के संदर्भ में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण करना आवश्यक है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थापिका राज्य की सर्वोच्च सत्ता है और कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है, परंतु व्यवहार में कार्यपालिका ही प्रधान हो जाती है।

संसदीय शासन.प्रणाली-संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत कार्यपालिका तथा विधायिका के बीच घनिष्ठ संबंध रहता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं। साथ-ही-साथ व्यवस्थापिका पर नियंत्रण रखती है। व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर निम्नलिखित ढंग से नियंत्रण रखती है-

कार्यपालिका सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रथम लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी होती है।

व्यवस्थापिका प्रश्नों द्वारा, वाद.विवाद के द्वारा, सरकारी नीति की आलोचना करके निंदा का प्रस्ताव पारित कर, स्थगन का प्रस्ताव पारित कर, कटौती का प्रस्ताव पारित कर कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

व्यवस्थापिका का प्रथम सदन मंत्रिमंडल के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर मंत्रिमंडल को अपदस्थ कर सकता है।

व्यवस्थापिका विभिन्न समितियों का गठन कर प्रशासकीय विभागों के कार्यों की जाँच-पड़ताल कर सकती है।

अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली- अध्यक्षात्मक शासन.प्रणाली के अंतर्गत व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ संबंध नहीं रहता, फिर भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कुछ कार्यों पर नियंत्रण रखती है। अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गई नियुक्तियाँ या संधियाँ तब तक प्रभावी नहीं होती, जब तक कि उनपर सिनेट का अनुसमर्थन प्राप्त न हो जाए। अन्य प्रकार से भी सिनेट राष्ट्रपति पर नियंत्रण रखती है।

वास्तविक स्थिति-आधुनिक युग के संदर्भ में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण एक सैद्धांतिक तथ्य है। व्यवहार में कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका को नियंत्रित करती है। संसदीय शासन.प्रणाली के अंतर्गत मंत्रिमंडल लोकसभा को विघटित करने की क्षमता रखती है। व्यवस्थापिका के पास समय के अभाव, विधेयकों में तकनीकी प्रश्नों का उदय, आदि के कारण व्यवस्थापिका अपनी शक्तियों को कार्यपालिका के सम्मुख समर्पित करती जा रही है। आधुनिक संसदों के पास न तो इतना समय है और न इतनी क्षमता है कि वे संपूर्ण कार्य को स्वयं संपादित करें। व्यवस्थापिकाएं केवल नीति निर्धारित करके मूल बातों के संबंध में कानून बनाकर विस्तृत विवेचना का कार्य कार्यपालिका पर छोड़ देती है। प्रदत्त विधान तथा कार्यपालिका द्वारा अध्यादेश जारी करने की क्षमता ने भी व्यवस्थापिका को अधीनस्थ संस्था के रूप में काम करने के लिए विवश कर दिया है।

संसदीय शासन-प्रणाली के अंतर्गत विधि-निर्माण का संपूर्ण कार्य मंत्रिमंडल का रहता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के अंतर्गत प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप में कार्यपालिका विधायन को प्रभावित करती है। अमेरिका में राष्ट्रपति संदेश भेजकर या निषेधाधिकार का प्रयोग कर विधायन को प्रभावित करता है।

उपर्युक्त तथ्य इस बात का समर्थन करते हैं कि व्यवस्थापिका का प्रभाव कम होता जा रहा है और कार्यपालिका अपना प्रभाव बढ़ाती जा रही है। बर्नार्ड ब्राउन ने लिखा है, ''व्यवस्थापिका की स्थापना का उद्देश्य कार्यपालिका की शक्ति को सीमित और नियंत्रित करना है, लेकिन आधुनिक युग में शक्ति का केंद्र व्यवस्थापिका से-हटकर कार्यपालिका की ओर जा रहा है।'' निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते है कि सिद्धांत में आज भी व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर नियंत्रण रखने का दावा करती है, परंतु व्यवस्थापिका पर कार्यपालिका का नियंत्रण रहता है।

वस्तुतः, आज के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका मिलकर कार्यों का निष्पादन करने का प्रयास करती है। कार्यपालिका की शक्तियों एवं प्रभाव में वृद्धि हुई है, परंतु उसकी शक्तियों का स्त्रोत व्यवस्थापिका ही है।

कार्यपालिका-व्यवस्थापिका-संबंध के संदर्भ में यह कहना उपयुक्त होगा कि आज का विवाद कार्यपालिका-व्यवस्थापिका के सापेक्ष महत्त्व का नहीं है। ये दोनों राजनीतिक दलों के माध्यम से संयुक्त व सहयोगी बन जाते हैं। रिचार्ड न्यूस्टेड ने ठीक ही कहा है, ''आज वास्तविक शक्ति-संघर्ष मुख्य कार्यपालिका तथा व्यवस्थाविका के बीच न होकर यथार्थ में राजनीतिक नेताओं व्यवस्थापिका और कार्यपालिका समान रूप से सरकार का नियंत्रण नौकरशाही के हाथों में खोती जा रही है।''

अभ्यास प्रश्न

1.राजनीतिक कार्यपालिका का उदाहरण स्पष्ट कीजिए।

2."अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वह है जिसमें कार्यपालिका एवं उसके मंत्री अपने कार्यकाल, नीति एवं कार्यों के लिए वैधानिक दृष्टि से विधानपालिका के नियंत्रण से मुक्त है।" यह कथन किसका है?

## 6.9 सारांश

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि सरकार के प्रमुख अंगों में कार्यपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कार्यपालिका का सर्वप्रमुख कार्य प्रशासकीय, कूटनीतिज्ञ, सैनिक, विधिनिर्माण, न्यायिक एवं वित्तीय कार्य प्रमुख है। अतः हम देखते है कि आधुनिक राज्यों के सफल संचालन के लिए कार्यपालिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

## 6.10 शब्दावली

कार्यपालिका-कार्यपालिका सरकार का वह अंग है, जिसका कार्य व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयकों का कार्यान्वयन करना है। विधियों को लागू करने वाली शक्ति को कार्यपालिका कहा जाता है।

## 6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भारत में प्रधानमंत्री, मंत्रीपरिषद् राजनीतिक कार्यपालिका के उदाहरण है। 2. गार्नर

## 6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11

2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13

3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

## 6.13 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory

2. Robert Dahl: A preface to democratic theory

3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics

4. K.C. Wheare: Modern Constitution

## 6.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.कार्यपालिका से क्या समझते हैं ? उसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

2. कार्यपालिकाके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिए।

# इकाई 7- न्यायपालिका

इकाई की रुपरेखा

7.1 प्रस्तावना

7.2 उद्देश्य

7.3 न्यायपालिका का महत्व

7.4 न्यायपालिका के कार्य

7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.12 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

## 7.1 प्रस्तावना

सरकार राज्य का एक प्रमुख तत्त्व है अर्थात हम कह सकते है कि राज्य की कल्पना सरकार के बिना नहीं की जा सकती। सरकार के कार्यों को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जहां तक न्यायपालिका का संबंध है तो इसका प्रमुख कार्य देश के लिए विधियों की व्याख्या करना एवं उसके उल्लघन करने वालों को दण्डित करना है।

## 7.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य हो जाएंगे किः

- सरकार के प्रमुख अंगों में न्यायपालिका के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका के संगठन एवं कार्यों के बारे में विस्तार से अध्ययन सामग्री प्राप्त कर सकते हैं।
- न्यायपालिका की शक्तियों में वृद्धि के क्या कारण है उसका भी तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है।

## 7.3 न्यायपालिका का महत्व

समाज की उत्पत्ति के साथ-साथ न्याय की मांग का भी सिलसिला प्रारंभ हुआ। अनेक विद्धानो ने कहा है कि मनुष्य स्वभाव से संघर्षशील प्राणी है। मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षों एंव मतभेदो ने न्याय को जन्म दिया। प्राचीन कालमेंएक या दो व्यक्ति मिलकर व्यक्तियों के झगडों का निबटारा करते थे। ज्यो-ज्यो समाज सभ्य और उन्न्त होता गया, न्याय पद्धति में भी विकास होता गया। आदिकाल से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप में न्याय विभाग का अस्तित्व सदैव रहता है। तथा सामान्य जनता के दृष्टिकोण से न्यायिक कार्यों का संपादन सदा से ही महत्व का विषय रहा है। गार्नर के कथानुसार, ''न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य राज्य की कल्पना नही की जा सकती है।'' मनुष्यो के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय दे नेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है।

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करनेमेंदेर हो जाए या न्याय में दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

न्यायपालिका लोकतंत्र का प्रहरी है। कानून का पालन करने तथा कानून के प्रति आस्था जगाने मे, न्यायपालिका की विशिष्ट भूमिका रहती है। लोकतंत्र में जनता को समानता पर आधृत न्याय मिलना आवश्यक है। नागरिक की स्वतंत्रता, समानता तथा उसके मौलिक अधिकारो की रक्षा करने में भी न्यायपालिका विशिष्ट भूमिका अदा करती है।

संघात्मक शासन में न्यायपालिका का विशेष महत्व है। संघात्मक शासन में संघ और ईकाइयो के बीच सदैव संघर्ष की संभावना रहती है। न्यायपालिका के अभाव में इस संघर्ष को दूर नही किया जा सकता। अतः एक स्वतंत्र एव शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की प्रमुख विशेषता है।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को स्पष्ट करता है कि न्यायपालिका आधुनिक समाज की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

न्यायपालिका के महत्व को स्पष्ट रूप से समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओ का उल्लेख करना आवश्यक है। ये बिंदु न्यायपालिका के महत्व के सांक्षी है।

1. न्यायपालिका सभ्य समाज का प्रतीक है-अगर राज्य में न्यायपालिका नही हो तो नागरिक आपस में लड़ते-झगड़ते रहेंगे और समाजमेंअराजकता का साम्राज्य बना रहेगा। न्यायपालिका नागरिको के झगडो और मतभेदो को दूर कर समाज में व्यवस्था कायम रखने में सहायक होती है।

2. कानून के प्रति आस्था-न्यायपालिका देश के प्रचलित कानून के आधार पर लोगो के झगड़ो को दूर कर लोगो के मन में कानून के प्रति आस्था पैदा करती है।

3. विधि का शासन-विधि के शासन की स्थापना में भी न्यायपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि न्यायपालिका नही रहे तो राज्य में व्यक्ति विशेष का अधिनायकवाद स्थापित हो सकता है। कानून की मर्यादा को प्रसारित कर न्यायपालिका विधि का शासन लागू करती है।

4. लोकतंत्र का प्रहरी-समय पर कानून की व्याख्या कर तथा जनता के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित कानून तथा परंपराओ को मान्यता देकर न्यायपालिका लोकतंत्र की रक्षा करने में समर्थ होती है।

5. नागरिको के अधिकारो एंव स्वतंत्रता की रक्षा-न्यायपालिका नागरिको के अधिकारो एवं स्वतंत्रता की रक्षा करनेमेंभी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। यही कारण है कि न्यायपालिका को नागरिको के मौलिक अधिकारो का संरक्षक कहा जाता है।

6. संघात्मक शासन में महत्व- संघात्मक शासन में न्यायपालिका का विशेष महत्व है। न्यायपालिका संघ और इकाईयो के बीचके विवादो को दूर करने में विशेष सहायक सिद्ध होती है। स्वतंत्र और शक्तिशाली न्यायपालिका संघात्मक शासन की पूर्वशर्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि एक सभ्य समाज के लिए न्यायपालिका अनिवार्य शर्त है। ब्राइस के शब्द मे, यदि न्याय का दीप अंधेरे में बुझ जाए तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नही की जा सकती।‘‘

## 7.4 न्यायपालिका के कार्य

सरकार के अन्य अंगो की तरह न्यायपालिका के कार्य भी इंगित कर दिए गए है। आधुनिक राज्यमेंन्यायपालिका निम्नलिखित मुख्य कार्यों का संपादन करती है:-

1. न्यायपालिका का सर्वप्रथम तथा सबसे महत्वपूर्ण कार्य है, झगड़ों एंव विवादो का फैसला करना। पुराने जमानेमेंपंचो के द्वारा आपसी झगड़ों को दूर किया जाता है। अब यह काम न्यायपालिका करती है। न्यायपालिका नागरिको के आपसी झगड़ों एंव विवादो का फैसला करती है।

2. न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालों को दंड देती है। समाजमेंअनेक प्रकार के कानून बनाए जाते है। यदि इन कानूनों का पालन नही हो तो समाज में विश्रंखलता तथा अराजकता का साम्राज्य फैल जाएगा। न्यायपालिका कानून का उल्लंघन करनेवालें को दंड देकर कानून की मर्यादा बरकरार रखती है।

3. कानूनो की व्याख्या करना भी न्यायपालिका का मुख्य कार्य है। विधायिका द्वारा पारित कानूनोंमेंकई अस्पष्टताएँ तथा र्कइं त्रुटियाँ रह जाती है। न्यायालय इन अस्पष्टताओं की व्याख्या कर निंहित त्रुटियों को दूर करती है।

4. संविधान की रक्षा करना न्यायपालिका का सबसे महत्वपूर्ण एंव पुनीत कार्य है। संविधान देश की शासन-व्यवस्था का आधार है। यह देश का मौलिक कानून संविधान की पवित्रता बनी रहती है।

5. न्यायपालिका कानून-निर्माण का भी कार्य करती है। समय-समय पर कानूनों की व्याख्या करने के क्रममेंन्यायपालिका नए कानून का भी निर्माण करती है। औचित्य के आधार पर भी कानून का निर्माण किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा निर्मित कानून को केस-लॉ कहा जाता है। लिकॉक के कथानुसार,''न्यायधीशो द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्षा से कानून पूरक होता है। इस दृष्टि से न्यायालय अर्द्ध-विधानमंडल का रूप धारण करके कई वर्तमान कानूनों का निर्माण करता है।''

6. न्यायपालिका पर नागरिक के अधिकारों की रक्षा करने की भी जिम्मेदारी रहती है। न्यायपालिका को नागरिकों के अधिकारों का संरक्षक माना जाता है। मौलिक अधिकारों की रक्षा के क्रम में न्यायालय विभिन्न प्रकार के लेख एंव आदेश जारी करता है। भारत के अनुच्छेद 32 एवं 226 के अंतर्गत नागरिको के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय एंव उच्च न्यायालय क्रमशः आदेश एवं लेख जारी कर सकते है।

7. न्यायपालिका को प्रशासनिंक विभागों या प्राधिकरणों द्वारा दिए गए निर्णयों के विरूद्ध अपील सुननें का अधिकार है। भारत में न्यायालय श्रम न्यायधिकरण, आयकर विभाग, चुनाव आयोग आदि के निर्णयों के विरूद्ध अपील सुनता है।

8. अनेक राज्यों में न्यायपालिका परामर्श देन का भी कार्य करती है। भारत के कई मामलो में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श ले सकता है। ब्रिटेन में प्रिवी कौसिल भी परामर्श देनें का कार्य करती थीं।

9. न्यायपालिका प्रशासकीय कार्य भी संपादित करतीं है। अपने अधीन काम करनेवाले कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनकीं सेवा-संबंधी शर्तों को निर्धारित करना, अधींनस्थ न्यायालयों का निरींक्षण एवं अधीक्षण न्यायपालिका के कुछ प्रशासकींय कार्य है।

आधुनिक युग में न्यायपालिका के कार्योंमेंव्यापकता और विविधता दोनों पाई जाती है। प्रो0 मसालदन ने कहा है, ''न्यायपालिका के समस्त कार्यों को दो भागोंमेंरखा जा सकता है-एक सरकार के अन्य अंगो पर नियंत्रण लगाने का कार्य,दूसरा व्यक्ति के अधिकारों से संबंधित कार्य।'' आज के संदर्भमेंदोनों प्रकार के कार्य समान महत्व के हो गए है और न्यायपालिका दोनों पर समानरूप से ध्यान देती है।

## 7.5 न्यायपालिका की स्वतंत्रता

न्यायपालिका की प्रभावशीलता के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को स्वतंत्रता प्रदान की जांए। लोकतंत्र की रक्षा सही अर्थमेंतभी की जा सकती है जब न्यायपालिका को सशक्त और स्वतंत्र बनाया जाए। संघात्मक शासन के अंतर्गत तो न्यायपालिका का स्वतंत्र होना अनिवार्य है। साम्यवादीं देशों को छोड़कर प्रायः सभी देशों में न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने का प्रयास किया गया है। अनेक देशों ने अपने संविधान के अंतर्गत न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के संबंध में आवश्यक प्रावधान किए है। अमेरिका, भारत आदि देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रा पर अत्यधिक बल दिया गया है। न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए कुछ विधियां है जिन्हे प्रत्येक देशों मेंअपनाया जाता है:-

1. न्यायपालिका की स्वतंत्रा के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति सबसे महत्वपूर्ण परिवर्त्य है। न्यायपालिका के न्यायाधीशों के चुनाव के चार मुख्य तरीके हैः-

i.कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति,

ii.व्यवस्थापिका द्वारा निर्वांचन,

iii.जनता द्वारा चुनाव, और

iv.न्यायिक सेवा प्रतियोगिता द्वारा चुनाव।

आम तौर से न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के द्वारा ही की जाती है। अनेक दोषांे के बावजूद कार्यपालिका द्वारा न्यायाधीशों की नियुक्ति को सर्वाधिक समर्थन मिला है। इस संबंधमेंलास्की ने कहा है, इस विषयमेंसभी बातो को देखते हुए न्यायाधीशों के पदों को राजनीति का शिकार नही बनना चाहिए।

कुछ देशों में न्यायाधीशों को व्यवस्थापिका या जनता द्वारा निर्वाचित करने की व्यवस्था की गई है। जहां तक निर्वाचित न्यायाधीशों का प्रश्न है, इसके पक्ष और विपक्ष में तर्क दिए गए है, परंतु अधिकांश विद्वानों ने इस पद्धति को अस्वीकार किया है।

व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायाधीशों की पद्धति को भी सर्वमान्यता नही मिली है, क्योंकि समीक्षकों का यह मत है कि व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित न्यायपालिका के हाथों की कठपुतली बन जाएगी। कुल मिलाकर स्थिति यह है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के दृष्टिकोंण से मुख्य कार्यपालक द्वारा की गई नियुक्ति बेंहतर है, बशर्ते उसके अंतर्गत राजनीतिक आधार न हो।

2. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार भी एक प्रबल तत्व है। निष्पक्ष स्वतंत्रता का अर्थ है कि न्यायाधीशों में भ्रष्टाचार नही होना चाहिए और उन पर विधानमंडल तथा कार्यकारिणीं का नियंत्रण नही होना चाहिए।'' अच्छी योग्यता तथा अच्छे चरित्रवाला व्यक्ति अच्छा न्याधींश हो सकता है।

3. न्यायपालिका को स्वतंत्र बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिक दलबंदी से ऊपर हो। सोवियत रूसमेंसाम्यवादी दल के सदस्य या समर्थक ही न्यायधीश नियुक्त होते है, इसलिए सोवियत रूसमेंन्यायपालिका को स्वतंत्र नही कहा जा सकता है। स्वतंत्रता और निष्पक्षता के आधार पर ही अमेंरिका के सर्वोच्च न्यायलय के न्यायाधीशों के प्रारंभ में राजनीतिक मसलों पर परामर्श देने से अस्वींकार कर दिया था।

4. न्यायाधीशों की पदच्युति भी न्यायपालिका की स्वतंत्रता का एक प्रमुख बिंदु है। न्यायाधीशों के पद की सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण पहलू है। यदि न्यायाधीशों को कार्यपालिका मनमाने ढंग से हटा देती है तो निश्चित रूप से न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अपहरण होगा। अपने पद पर बने रहने के लिए न्यायाधीशों कार्यपालिका के विरूद्ध जाने का प्रयास नही करेगें, यही कारण है कि सभी देशों में न्यायाधीशोंको पदच्युत करने के लिए जटिल प्रक्रिया अपनाई जाती है। भारत और अमेरिकामेंसर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के लिए विधायिका के दोनों सदनों द्वारा प्रस्ताव पारित होना आवश्यक है। न्यायाधीशों को हटाने की जटिल प्रक्रिया न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक शर्त है।

5.न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए न्यायाधीशों के निश्चित एंव पर्याप्त वेतन-भत्ते आवश्यक है। कम वेतन और भत्ते से न्यायाधीशों को भ्रष्ट होने का भय रहता है। हैमिल्टन के कथानुसार,''यह मानव-स्वभाव है कि जो मनुष्य अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्तिसंपन्न है, उसके पास संकल्प का भी बडा बल होता है।'' भारतमेंआपातकाल को छोडकर न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्तेमेंकटौती नही होती, फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारतमेंन्यायाधीशों के वेतन एंव भत्ते अपर्याप्त है। अभी कुछ दिनों पूर्व भारत के उच्चतम एंव उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन एवं भत्तेमेंवृद्धिं की गई है।

6. न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए लंबी कार्यावधि आवश्यक है। अमेरिकामेंन्यायधीश 70 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है, यद्यपि सांविधानिक प्रावधानों के अंतर्गत उनके अवकाश-ग्रहण के लिए आयु निर्धारित नही है। छोटी कार्यावधिं के कारण न्यायधीश हमेशा संशकित रहते है। भारतमेंभी सर्वोच्च न्यायालय के न्यायधीश 65 वर्ष तक अपने पद पर बने रहते है।

7. ग्रहण के बाद नियुक्ति नही-न्यायपालिका और कार्यपालिका का पृथक्करण न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। अगर न्यायपालिका और कार्यपालिका शक्तियाँ एक ही व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक समूहमेंहो न्याय-वितरण का कार्य निष्पक्षता से नही हो सकता। उसी प्रकार यदि न्यायपालिका कार्यपालिका के मातहत हो तो न्यायपालिका स्वतंत्र और निष्पक्ष ढंग से न्याय-वितरण का कार्य नही कर सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण इस बात को प्रतिपादित करता है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए कुछ शर्तो का पालन होना आवश्यक है। भारत और अमेरिकामेंन्यायपालिका के स्वतंत्रता के लिए संविधानमेंआवश्यक प्रावधान रखे गए है। व्यवहारमेंभी न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रयास किया गया है। भारत में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के स्थानांतरण को लेकर व्यापक विवाद उठ खडा हुआ था। न्यायाधीशों के स्थानांतरण को न्यायपालिका की स्वतंत्रता का अवरोधक समझा गया था। पूरे राष्ट्रीय स्तर पर इस विवाद पर विचार-विर्मश किया गया। ब्रिटेन में न्यायपालिका उस सीमा तक स्वतंत्र नही है जिस सीमा तक वह भारत और अमेरिका में है।

## 7.6 न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर आधुनिक विवाद

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के संबंधमेंएक विवाद उठ खडा हुआ है। आज राज्योंमेंअनेक प्रशासनिक न्यायालयों तथा प्रशासकीय अधिकरणों का उदय हो गया है जिसके कारण प्रशासकीय तथा न्यायिक संरचनाओ के बीच विभाजन-रेखां खींचना कठिन हो गया है। एलेन बाल ने लिखा है, ''न्यायाधीश और न्यायालय समग्र राजनीतिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण पहलू है।'' राबर्ट डाल ने भी अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है, ''संयुक्त राज्य के सर्वोत्तम न्यायालय को एकमात्र विधिक संस्था समझना अमेरिकी राजनीतिक पद्धति में उसके महत्व को कम आकंना है, क्योंकि वह राजनीतिक संस्था भी है।'' वर्तमान दशक में भारत के सर्वोच्च न्यायालय को लेकर जो विवाद चल रहा है, उसमें भी मूल प्रश्न यही है कि विधिक प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया से दूर नही है। इसी विधिक संरचना राजनीति संस्कृति तथा न्यायाधीशों के राजनीतिक एंव सामाजिक मूल्यों के बीच अंतःक्रिया होती रहती है जो सारी विधिक पद्धति को चयन प्राथमिकताओ और संघर्ष के घेरें में दृढतापूर्वक खींच लाती है। अनेक विद्वानो का मत है कि न्यायिक प्रक्रिया को अन्य राजनीतिक प्रक्रियाओं से पृथक, स्वतंत्र या अलग मानना वास्तविकताओ को अनदेखी करना है। आधुनिक युग में न्यायपालिका को अन्य राजनीतिक संरचनाओं से अलग माननें के बजाय उसका सहयोगी मानना ज्यादा हितकर है। इसलिए न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल देना आवश्यक है। साम्यवादी देशों में न्यायपालिका की स्वतंत्रता का प्रश्न एक गौण प्रश्न है। सोवियत रूस में न्यायपालिका कम्यूनिस्ट पार्टी के मातहत काम करती है वहा न्यायपालिका सर्वोच्च सोवियत के विधेयकों तथा पार्टी के हित एंव आदेशों के विरूद्ध स्वतंत्र रूपमेंनिर्णय नही दे सकती। इसलिए सोवियत

रूस तथा साम्यवादी देशों मेंन्यायपालिका की स्वतंत्रता का कोई महत्व नही है और न ही यह विवादास्पद प्रश्न है। उपर्युक्त विचारधारा में तर्कबल रहने के बावजूद आज भी अधिकांश विचारक मानते है कि न्यायपालिका की स्वतंत्रता को यथासंभव बरकरार रखने की आवश्यकता है।

## 7.7 न्यायिक पुनर्विलोकन: अर्थ एवं परिभाषा

न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय कानूनों की संविधानिकता की जांच कर सकता है। कॉरविन ने न्यायिक पुनर्विलोकन की परिभाषा देते हुए कहा है,''न्यायिक पुनर्विलोकन का अभिप्राय न्यायालयों की उस शक्ति से है, जो उन्हे अपने न्याय-क्षेत्र के अंतर्गत लागू होनेवाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के संबंध में प्राप्त है, जिन्हे वे अवैध और व्यर्थ समझे।'' एच0 जे0 अब्राहम के कथानुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालय की वह शक्ति है जो किसी भी कानून या सरकारी कार्य को असंविधानिक घोषित कर सकती है और उसके प्रयोग को रोक सकती है।'' मैक्रीडिस तथा ब्राउन के अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन का आशय न्यायाधीशों की उस शक्ति से है, जिसके अधीन वे उच्चतर कानून के नाम पर उन्हे अमान्य ठहरा सके।'' इनसायक्लोपिडिया ब्रिटानिका मेंभी न्यायिक पुनर्विलोकन की स्पष्ट परिभाषा दी गई है। इसके अनुसार, ''न्यायिक पुनर्विलोकन न्यायालयो की वह शक्ति है, जिसके द्वारा न्यायालय किसी देश की सरकार के विधायिनी, कार्यकारिणी और प्रशासकीय अंगो के कार्यों का परीक्षण करता है तथा यह देखता है कि वे संविधान के प्रावधानों के अनुकूल है''

उपर्युक्त परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि न्यायालय को विधायिका और कार्यपालिका के कार्यों की जांच करने की शक्ति है। वह संविधान का संरक्षक है। इस हैसियत से यह देखनां उसका पुनीत कर्तव्य है कि विधायिका का कोई कानून देश के मौलिक कानून-संविधान के किसी प्रावधान के प्रतिकूल नही है। अमेरिका में सर्वप्रथम 1803 ई0 में मारबरी बनाम मेडिसन के मुकदमे में मुख्य न्यायाधीश मार्शल ने न्यायिक पुनर्विलोकन के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। न्यायाधीश मार्शल ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि न्यायालय कानून की वैधानिकता की जांच कर सकता है। संविधान के किसी भी प्रावधान का उल्लंघन करने पर वह उसे अवैध घोषित कर सकता है तथा उसे लागे करने से अस्वीकार कर सकता है।

अभ्यास प्रश्न

1. न्यायपालिका के दो कार्य बताइए।
2. शक्ति प्रथक्करण सिद्धांत किसने दिया है।

## 7.8 सारांश

सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है। चाहे कानून के निर्माण की मशीनरी कितनी भी विस्तृत और वैज्ञानिक क्यो न हो, चाहे कार्यपालिका का संगठन कितना

भी पूर्ण क्यो न हो, परंतु फिर भी नागरिक का जीवन दुखीः हो सकता है और उसके जान-माल को खतरा उत्पन्न हो सकता है, यदि न्याय करनेमेंदेर हो जाए या न्याय में दोष रह जाए अथवा कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण या भ्रामक हो। ब्राइस ने न्यायपालिका के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढकर सरकार की उत्तमता की दूसरी कोई भी कसौटी नही है क्योकि किसी ओर चीज से नागरिक की सुरक्षा और हितो पर उतना प्रभाव नही पडता जितना कि उसे इस ज्ञान से कि वह एक निश्चित, शीघ्र एवं निष्पक्ष न्यायशासन पर निर्भर रह सकता है।

## 7.9 शब्दावली

न्यायपालिका-मनुष्यों के पारस्परिक संघर्षों और मतभेदो को दूर करने तथा न्याय देनेवाली संस्था को न्यायपालिका कहा जाता है। सरकार के तीन अंगो-व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका-मे न्यायपालिका का विशिष्ट महत्व है। सरकार के जितने भी मुख्य कार्य है, उनमे न्यायकार्य निःसंदेह अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका संबंध नागरिको से होता है।

## 7.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. कानूनों की व्याख्या करना एवं नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना। 2. मॉन्टेस्क्यू

## 7.11संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. C.F.Strong: Modern Political Constitutuions, 1966, p.11
2. William G.Andrews: Constituion and constitutionsalism, 1971, p. 13
3. Charles h. Macdlwain: Constitutionalism : ancient and modern, 1940, p. 4

## 7.12सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. George H. Sabine: A history of political theory
2. Robert Dahl: A preface to democratic theory
3. R.C. Macridis and B.E. Brown: Comparative politics
4. K.C. Wheare: Modern Constitution

## 7.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायपालिका से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

2. न्यायपालिका प्रजातन्त्र की आत्मा है? व्याख्या कीजिए।

# इकाई 8: लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा
8.4 लोकतंत्र की विशेषताएं
8.5 लोकतंत्र के भेद
8.6 लोकतंत्र के गुण
8.7 लोकतंत्र के दोष व आलोचना
8.8 अधिनायकतंत्र
8.9 अधिनायकतंत्र की विशेषताएं
8.10 अधिनायकतंत्र के गुण व दोष
8.11 सारांश
8.12 शब्दावली
8.13 अभ्यास प्रश्नो के उत्तर
8.14 संदर्भ ग्रन्थ
8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.16 निबन्धात्मक प्रश्न

## 8.1 प्रस्तावना

बीसवीं सदी से, लोकतंत्र को शासन के सर्वश्रेष्ठ रूप में सार्वभौमिक स्वीकृति प्राप्त है। यह विचार कि लोगों को स्वयं शासन करना चाहिए, इतना आशाजनक है कि उदारवादी, रूढ़िवादी, समाजवादी, साम्यवादी, यहां तक कि फासीवादी भी हर जगह खुद को लोकतांत्रिक घोषित करने के लिए उत्सुक रहते हैं। ऐसे में लोकतंत्र और उसकी विशेषताओं को समझना अनिवार्य है जो लोकतंत्र को आधुनिक समाज में इतना लोकप्रिय बनाती है।

इस इकाई में हम लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र पर विचेचना करेंगे। जहाँ लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ जनता की शक्ति होता है, उसके ही विपरीत, अधिनायकतंत्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें शासन का संचालन सत्ताधारी व्यक्ति की इच्छा के अनुसार होता है। आज के समय में दोनों के बीच अंतर करना बहुत ही आवश्यक है। इस इकाई में लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र की प्रमुख विशेषताएं, विभिन्न प्रकार और उनके गुण व दोष पर विस्तार से चर्चा की गई है।

## 8.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

1.लोकतंत्र का अर्थ और परिभाषा समझ सकेंगे।

2.लोकतंत्र की अनेक विशेषताएं स्पष्ट कर सकेंगे।

3.अधिनायकतंत्र का अर्थ और परिभाषा समझ सकेंगे।

4.अधिनायकतंत्र की विशेषताएं समझ सकेंगे।

5.लोकतंत्र और अधिनायकतंत्र के गुण, दोष और आलोचनाओं को जान सकेंगे।

## 8.3 लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा

आधुनिक समाज में लोकतंत्र एक विवादास्पद फिर भी उपयोगी शासन प्रणाली साबित हुई है। जहां यह अस्तित्व में नहीं है, वहां लोग इसके लिए लड़ रहे हैं और जहां यह पहले से ही मौजूद है, वहां लोग इसे परिपूर्ण बनाने का प्रयास कर रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं को लोकतंत्र कहता है और पाकिस्तान भी स्वयं को लोकतंत्र कहता है, यहां तक कि अधिनायकवादी राज्य भी स्वयं को लोकतंत्र कहलाना पसंद करते हैं।

लोकतंत्र की जड़ें प्राचीन ग्रीस में पाई जा सकती हैं। अंग्रेजी शब्द डेमोक्रेसी (लोकतंत्र) प्राचीन ग्रीक शब्द 'क्रेटोस'- जिसका अर्थ 'शक्ति' या 'शासन' है- को डेमोस शब्द से मिला कर बनाया गया है, जिसका अर्थ 'जनता' है। इस प्रकार डेमोक्रेसी या लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ 'डेमोस द्वारा शासन' या जनता की शक्ति पर आधारित शासन है।

प्राचीन ग्रीस में, लोकतंत्र को स्वतंत्रता और ज्ञान का दुश्मन माना जाता था। अपने आधुनिक उपयोग के विपरीत वह एक नकारात्मक व अपमानजनक शब्द था, जो संपत्तिहीन और अशिक्षित जनता के शासन को दर्शाता था। इसलिए अरस्तू को डर था कि अनियंत्रित लोकतंत्र 'भीड़ शासन' के रूप में बदल जाएगा। बीसवीं सदी तक आते आते इस धारणा में परिवर्तन आया और लोकतंत्र सक्षम शासन प्रणाली के रूप में देखा जाने लगा।

सदियों से विद्वानों ने लोकतंत्र को अलग-अलग ढंग से समझा और उसकी परिभाषा दी। अब्राहम लींकन के शब्दों में "लोकतंत्र शासन का वह रूप है जिसमें जनता का शासन,जनता द्वारा, जनता के लिए होता है"।

सीले की परिभाषा लें तो "लोकतंत्र एक ऐसी सरकार है जिसमें प्रत्येक का हिस्सा है"।

ब्राइस के अनुसार "यह शासन का वह प्रकार है जिसमें राज्य की शासन शक्ति किसी एक वर्ग या वर्गों के हाथ में नहीं, वरन समुदाय में एक समिष्टके रूप में निहित होती है"।

लैकि के अनुसार "लोकतंत्र अधिकतम निर्धन, अज्ञानी और अयोग्य व्यक्तियों की सरकार है जो की अनिवार्य रूप से बहुत अधिक हैं"।

डायसी के शब्दों में "लोकतंत्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें प्रत्येक शासक वर्ग सम्पूर्ण राष्ट्र का तुलनात्मक रूप से एक बड़ा अंश"।

हर्नशॉ ने लिखा है की "लोकतंत्र राज्य जनसाधारणतः वह है, जिसमें प्रभुत्व शक्ति समिष्ट रूप में जनता के हाथ में रहती है, जिसमें जनता शासन सम्बन्धी मामले पर अपना अंतिम नियंत्रण रखती है तथा यह निर्धारित करती है की राज्य में किस प्रकार का शासन-सूत्र स्थापित किया जाए। राज्य के प्रकार के रूप में लोकतंत्र शासन की ही एक विधि नहीं है,अपितु वह सरकार की नियुक्त करने, उस पर नियंत्रण रखने तथा इसे अपदस्थ करने की विधि भी है"। डायसी हर्नशॉ ब्राइस

कई विचारक शासन से आगे बढ़कर, लोकतंत्र को उसके व्यापक अर्थ में देखते हैं। जैसे गिडिंग्स की परिभाषा में प्रजातंत्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण है"।

सही मायनों में लोकतंत्र शासन का एक ऐसा प्रकार है जो समाज को भी उतना ही प्रभावित करता है। डा. बेनीप्रसाद के अनुसार, लोकतंत्र एक जीवन शैली है।

## 8.4 लोकतंत्र की विशेषताएँ

लोकतंत्र की लोकप्रियता के पीछे क्या कारण हैं वह निम्नलिखित विशेषताओं से समझा जा सकता हैं।

लोकतंत्र सरकार का एक ऐसा रूप है जिसमें सत्ता लोगों में निहित होती है, जो इसका प्रयोग सीधे या निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से करते हैं। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था जनप्रभुता के विचार पर आधारित है। जनप्रभुता का अर्थ है कि 'सत्ता लोगों से उत्पन्न होती है और लोगों में ही निवास करती है'। लोक प्रभुता को प्राप्त करने के लिए नियम कालिन चुनाव व सरकार का जनता के प्रति उत्तरदायित्व अनिवार्य होता हैं। साथ ही, लोकतंत्र में राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताएँ लोकतंत्र को मज़बूत रखती हैं, जहाँ सभी नागरिकों को राजनैतिक व आर्थिक समानताएँ प्राप्त हो वह लोकतंत्र सफल माना जाता है। इस में मतदान का अधिकार, भाषण और सभा की स्वतंत्रता का अधिकार, राजनितिक दलों या हित समूहों के साथ जुड़ने का अधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता, शासन के कार्यों का विरोध करने का अधिकार इत्यादि सम्मिलित है। स्वतंत्रता के अतिरिक्त लोकतंत्र में राजनितिक व नागरिक समानता भी निहित होती है और कानून के समक्ष सभी व्यक्ति समान होते है। लोकतंत्र में धर्म, जाति, वंश, वर्ण, भाषा, लिंग तथा क्षेत्र के आधार पर भेदभाव नहीं होता है। सैधांतिक रूप से, सामाजिक और आर्थिक समानता को लोकतंत्र का उद्देश्य समझा जा सकता है क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए महत्वपूर्ण है। जब एक व्यक्ति को राजनैतिक समानता प्राप्त होती है तभी वह नागरिक के तौर पर राजनीतिक भागीदारी कर सकते हैं।

व्यक्ति का सर्वांगीण विकास लोकतंत्र का मुख्य ध्येय है। लोकतंत्र अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा करता है और यह सुनिश्चित करता है कि बहुसंख्यक व्यक्ति या समूह अल्पसंख्यकों के अधिकारों का उल्लंघन न पाए। लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान और गौरव को महत्ता दी जाती है जिस से स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की स्थिति प्राप्त हो पति है।

लोकतंत्र की एक विशेषता संविधानवाद भी है। संविधानवाद यानि 'सीमित शक्तियों वाला शासन' जहाँ सरकार संविधान और कानूनों से बंधी हो और सरकारी अधिकारियों सहित सभी व्यक्ति कानून के अधीन हों। लोकतंत्र कानून के शासन द्वारा शासित होते हैं, जिसका अर्थ है कि कानून सरकारी अधिकारियों सहित सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते हैं। यह कानूनी ढाँचे को पारदर्शी बनाता है और मनमाने कानूनों और निरंकुश सत्ता द्वारा शासित नहीं होता। यह शक्ति विभाजन और न्यायपालिका की स्वतंत्र से भी संभव होता है। लोकतंत्र में शासन के अंगों के मध्य शक्तियों का कार्यकारी, विधायी और न्यायिक शाखाओं के बीच विभाजित किया जाता है। शक्तियों का यह विभाजन यह सुनिश्चित करता है कि कोई भी एक शाखा बहुत अधिक शक्तिशाली न हो जाए और प्रत्येक शाखा दूसरों पर अंकुश लगाने का काम करे, जिससे शक्ति का दुरुपयोग रोका जा सके। लोकतंत्र में अक्सर सत्ता का विकेंद्रीकरण शामिल होता है, जिससे स्थानीय सरकारों और समुदायों को कुछ हद तक स्वायत्तता और निर्णय लेने का अधिकार मिलता है।

लोकतंत्र कई राजनीतिक दलों और विविध दृष्टिकोणों के अस्तित्व की अनुमति देता है। कई राजनीतिक दल और समूह सत्ता के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं, नागरिकों को विविध विकल्प और प्रतिनिधित्व प्रदान करते हैं। यह राजनीतिक बहुलवाद स्वस्थ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, बहस और समाज के भीतर विभिन्न हितों के प्रतिनिधित्व को बढ़ावा देता है।

यह विशेषताएं समग्र रूप से एक लोकतांत्रिक प्रणाली में योगदान करती हैं जिसका उद्देश्य व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतंत्रता की सुरक्षा करते हुए लोगों के कल्याण और हितों को बढ़ावा देना है।

## 8.5 लोकतंत्र के भेद

प्रमुख तौर पर लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था के दो भेद माने गये है- प्रत्यक्ष लोकतंत्र व अप्रत्यक्ष या प्रतिनिध्यातमक लोकतंत्र। जब जनता शासन के कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती है, नीति निर्धारण करती है और कानून बनाती है, उसे प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहा जाता है। हर्नशा के अनुसार "शुद्ध रूप से लोकतंत्र शासन वह होता है, जिसमें सम्पूर्ण जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से बिना कार्यवाहकों या प्रतिनिधियों के प्रभुसत्ता का प्रयोग करती है।" अर्थात लोकतंत्र में जनता संप्रभु होती है।

अप्रत्यक्ष लोकतंत्र से तात्पर्य है जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से सत्ता में भागीदार न होकर, अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन के कार्यों में भाग लेती है। मिल के अनुसार "अप्रत्यक्ष लोकतंत्र वह होता है जिसमें सम्पूर्ण जनता अथवा उसका बहुसंख्यक भाग शासन की शक्ति का प्रयोग अपने उन प्रतिनिधियों द्वारा करती है, जिनका वह समय-

समय पर चुनाव करती हैं। हर्नशा के शब्दों में "यह प्रतिनिधियों के माध्यम से सर्वोच्च सत्तावान जनता का शासन होता है।"

अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्रतिनिधिवादी लोकतन्त्र भी कहलाता है। इसकी व्याख्या करते हुए ब्लंशली ने लिखा है, "एक प्रतिनिधिवादी लोकतन्त्र में नियम है कि जनता अपने अधिकारियों के द्वारा शासन करती है और अपने प्रतिनिधियों के द्वारा कानून बनाती तथा प्रशासन का नियंत्रण करती है।" आधुनिक लोकतन्त्रों में उसका यही प्रकार प्रचलित है। अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र के आजकल कई प्रकार पाये जाते हैं जैसे, संसदात्मक जिसमें कि संसद प्रधान होती है, अध्यक्षात्मक (Presidential) जिसमें कि अध्यक्ष को विशेष अधिकार मिले होते हैं, एकात्मक जिसमें केंद्रीय सरकार मुख्य होती है और संघात्मक जिसमें अनेक राज्यों की सरकारें मिलकर एक संघ सरकार बनाती हैं और राज्य सरकार तथा संघ सरकार दोनों के काम बँटे हुए होते हैं।

## 8.6 लोकतंत्र के गुण

प्रो० डब्ल्यू. ई० हाकिंग ने लोकतन्त्र व्यवस्था के पक्ष को पुष्ट करते हुए यहां तक कहा है कि 'लोकतन्त्र चेतन और उप-चेतन मन की एकता है।' संक्षेप में, लोकतंत्र के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं:-

लोकतन्त्र का सबसे बड़ा योगदान जनता को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार देना है। लोकतंत्र में व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, नस्ल, लिंग व क्षेत्र के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता, वे कानून के सामने समान माने जाते हैं तथा जितनी स्वतंत्रता जनता को लोकतंत्र में प्राप्त होती है, उतनी अन्य शासन व्यवस्थाओं में नहीं होती।

लोकतंत्र सार्वजनिक जन शिक्षण का श्रेष्ठतम माध्यम है। लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था में जनता अपने सार्वजानिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक रहती है क्योंकि उन्हें मताधिकार व विचारों की अभिव्यक्ति द्वारा सभी क्षेत्रों में भागीदारी का मौका मिलता है। इस कारण जनता को प्रशासनिक, आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक सभी प्रकार का शिक्षण प्राप्त होता है। लोकतंत्र की सफलता के लिए जनता का शिक्षित होना अत्यन्त आवश्यक है। सी० डी० बर्न के अनुसार, "समस्त सरकार शिक्षा की एक प्रणाली है, परन्तु सर्वोत्तम शिक्षा आत्म शिक्षा है, इसलिये सर्वोत्तम सरकार स्वशासन है, जोकि जनतन्त्र है।" लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था विचार-विमर्श व समझौते की भावना पर आधारित होती है जो उच्च कोटि का राष्ट्रीय चरित्र विकसित करने में सहायक होती है।

लोकतंत्र एक लोकप्रिय शासन व्यवस्था होती है क्योंकि सत्ता जनता के ही सक्रीय भागीदारी द्वारा चुनी जाती है। इसमें जनता उदासीन दर्शक मात्र नहीं होती वह अपने अधिकारों का प्रयोग करके देश के सार्वजनिक क्षेत्र में सक्रीय भाग लेती है। अपने अधिकारों व कर्तव्यों के प्रति सजग रहती है कि उसके प्रतिनिधि उनके हित में कार्य कर भी रहे है या नहीं। लोकतंत्र में यह आभाष रहता है कि यदि कोई कानून जनता के हित में न हो तो जनता उन कानूनों को अस्वीकृत कर देगी।

लोकतंत्र में स्वशासन होने के कारण क्रांति से सुरक्षा प्रदान होती है और नागरिकों में देशभक्ति का विकास होता है। मिल के अनुसार, "जनतन्त्र देश के लिए प्रेम को मजबूत बनाता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार स्वयं उनकी सृष्टि है और न्यायाधीश उनके मालिक न होकर सेवक हैं"। जनता की सक्रिय भागीदारी से उनका राज्य के प्रति लगाव बना रहता है और इस लगाव से देशभक्ति की भावना जागृत होती है। लोकतंत्र में क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती क्योंकि शासन द्वारा सारे कार्य जनता के हित में ही किये जाते है तथा जनता की सुरक्षा शासन का कर्तव्य है। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट का कहता है की "लोकप्रिय शासन जन सहमति का शासन है। स्वभाव से ही वह क्रान्तिकारी नहीं हो सकता।"

लोकतंत्र किसी भी दूसरी शासन व्यवस्थाओं से अधिक कार्यकुशल होता है। शासन सम्बन्धी कोई भी कार्य लोकहित को ध्यान में रखकर किया जाता है। जनता की सरकार होने के कारण लोकतंत्र में जनता स्वेच्छापूर्वक कानून का पालन करती है। लोकतन्त्र में शासन पर जनता का नियन्त्रण रहता है और वह जब चाहे बहुमत से शासन में परिवर्तन कर सकती है।

## 8.7 लोकतंत्र के दोष व आलोचना

लोकतंत्र की प्रशंसा के साथ उसकी कड़ी आलोचना करना भी अति आवश्यक है। कुछ विद्वान लोकतन्त्र को सही अर्थों में भीड़तन्त्र कहते है। कुछ विचारकों का कहना है की यह अयोग्य व्यक्तियों का शासन है जहाँ योग्यता से अधिक संख्या बल को महत्व दिया जाता है। सभी मतदान योग्यता के आधार पर नहीं होते क्योंकि कई बार जनता राजनीतिक समस्याओं और लोक हित को समझने में असमर्थ होती है। इस सम्बन्ध में कार्पय्ल का कहना है कि 'विश्व में एक योग्य व्यक्ति के साथ लगभग 9 मूर्ख होते है और सभी को समान राजनीतिक शक्ति देने का परिणाम, मूर्खों की सरकार की स्थापना होता है।' अनेक विचारकों ने लोकतन्त्र को भीड़ का शासन बतलाया है क्योंकि इसमें बहुमत शासन करता है और इसलिये भीड़ का मनोविज्ञान काम करता है।

क्षेत्र व जनसंख्या की दृष्टि से आधुनिक राज्यों में प्रतिनिधियात्मक प्रजातंत्र के संचालन के लिए दलीय-प्रणाली एक अनिवार्य आवश्यकता है। किन्तु दल प्रणाली अपने व्यवहार के द्वारा लोकतंत्र को भ्रष्ट कर देती है। व्यवहार में इन राजनीतिक दलों का निर्माण सत्ता हथियाने के लिए व अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए होने लगा है। नेताओं द्वारा दूसरे दल के नेताओं पर छीटाकसी, सत्ता हथियाने के साधन बन गये है, जिस कारण नागरिकों के हितों की अनदेखी होती है।

लोकतंत्र पर यह आरोप लगते रहे है कि यह धनवानों का शासन है जहाँ पैसों के बल पर चुनाव जीते जाते हैं जिस कारण साधारण व्यक्ति को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता। लोकतंत्रीय व्यवस्था में कानून निर्माण की प्रक्रिया इतनी लम्बी होती है कि कानूनों के निर्माण में वर्षों लग जाते हैं जिसमें सार्वजनिक धन और समय की बरबादी होती है। चुनावों के समय में भी सार्वजनिक धन की बहुत बरबादी होती है।

आलोचकों का मानना है लोकतंत्र के सिद्धांत और व्यवहार में अंतर पाया जाता है, क्योंकि सामान्यतः बहुमत दल शासन अपनी इच्छानुसार चलाता है और वो अपने हितों की पूर्ति व अपने घनिष्ठों के निजी स्वार्थ सिद्धि में ही शासन का संचालन करता है। इसलिए लोकतंत्रीय शासन भ्रष्ट हो जाता है।

जहाँ लोकतंत्र समानता के आदर्श पर आधारित है, वहीं व्यवहार में चुनाव धन और बल से सम्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य व निर्धन व्यक्ति के चुनाव में खड़े होने और विजयी होने की आशा नहीं की जा सकती है। बारकर के शब्दों में, "लोकतन्त्र में कुछ ऐसे चालाक व्यक्तियों का शासन होता है जो बड़ी सफलता से जनता के मतों को अपने पक्ष में कर लेते हैं।"

राजनितिक दल निर्वाचन के समय राजनीतिक समस्याओं का बड़ा ही विकृत रूप सामने रखते हैं। धर्म, जाति, क्षेत्र व भाषा के आधार पर जनता को बॉट बैंक मात्र समझा जाता है और अपना राजनीतिक स्वार्थ पूरा किया जाता है। इन कारणों से मतदाताओं में उदासीनता उत्पन्न होती है। इस प्रकार राजनैतिक शिक्षा के स्थान पर जनता को राजनैतिक और सामाजिक दोनों प्रकार की कुशिक्षा प्राप्त होती है।

लौर्ड ब्रोहम का कहना है कि जनतन्त्र में, "न तो विदेशी और न आन्तरिक मामलों में किसी स्थायी और समीचीन नीति की सुरक्षा होती है। सरकारें बदलती रहती हैं और उनके साथ-साथ आन्तरिक और बाहरी नीतियाँ भी बदलती रहती हैं जिससे जनता को अत्यधिक कष्ट होता है।

लोकतंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि ईमानदार व योग्य व्यक्ति राजनीति में भाग लें। इन दोषो के बावजूद भी इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है की लोकतंत्र अन्य शासन व्यवस्थाओं, राजतंत्र व अधिनायक तंत्र के स्थान पर बेहतर विकल्प है। लोकतंत्र एक लोकप्रिय शासन-व्यवस्था है, जिसमें नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहते है।

## 8.8 अधिनायकतंत्र

अधिनायकतंत्र, लोकतंत्र के विरूद्ध एक शासन प्रणाली है। अधिनायकतंत्र में एक ही व्यक्ति में सम्प्रभुता निहित होती है और उसके इच्छानुसार ही शासन का संचालन किया जाता है। कई विद्वानों ने अधिनायकतंत्र को परिभाषित किया है। फोर्ड ने अधिनायकतंत्र की परिभाषा करते हुए कहा कि "राज्य के प्रमुख द्वारा असीमित सत्ता प्राप्त कर लेना ही अधिनायकतंत्र है"। न्यूमैन ने अनुसार "अधिनायकतंत्र से आशय एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के शासन करने से है।"

सोल्टाऊ के शब्दों में "अधिनायकतंत्र एक व्यक्ति का शासन है, जो अपनी सत्ता को वंश-परम्परा के साथ-साथ शान्ति व सहमति के आधार पर भी प्राप्त करता है और वह सत्ता प्राप्त व्यक्ति या संगठन पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न होता है, जिस प्रभुसत्ता का प्रयोग वह मनमाने आदेश जारी करके करता है।"

## 8.9 अधिनायकतंत्र की विशेषताएं

विद्वानों ने अधिनायकतंत्र को अपने अपने ढंग से समझा है। अधिनायकतंत्र की कुछ ख़ास विशेषताऐं और लक्षण हैं। अधिनायकतंत्र को लोकतंत्र के विरूद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है और यह स्वभावतः लोकतंत्र का विरोध करता है। अधिनायकतंत्र के समर्थक लोकतंत्र को घृणा की दृष्टि से देखते है। वह संसद को 'बकवास की दुकान' और लोकतंत्र को एक 'सड़ा हुआ शव' कहते सामने आए हैं।

अधिनायकतंत्र के समर्थक एक ही व्यक्ति की सत्ता को स्वीकार करते हैं तथा उसे ही प्रभुसत्ता सम्पन्न मानते है। वे शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन करते हैं। शक्ति केन्द्रित राज्य या सर्वाधिकारवादी राज्य में विश्वास अधिनायकतंत्र का एक प्रमुख लक्षण है। इस प्रणाली में शासन वर्ग सर्व शक्तिशाली होता है जो नागरिक जीवन के सभी पक्षों पर नियंत्रण रखता है। यह मुसोलीनी के इस कथन से भी स्पष्ट होता है की "सब कुछ राज्य के अन्तर्गत है, न राज्य के बाहर कुछ है और न राज्य के विरूद्ध कुछ है"। एक दल व एक नेतृत्व में विश्वास।

अधिनायकतंत्रीय शासन व्यवस्था में एक दल व एक व्यक्ति की सरकार होती है जो कि स्वाभाविक रूप से व्यक्तिगत स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करती और उसका पुरज़ोर के विरोध करती है। अधिनायकवादी शासन एक निरंकुश शासन होता है जो जनता द्वारा अपना विरोश पसंद नहीं करते। व्यक्तिगत स्वतंत्रता अधिनायकतंत्र के लिए एक बड़ा खतरा माना जाता है। स्वतंत्रता और जनमत को दबाने के लिए जनमत के माध्यम, जैसे समाचार पत्र, टी०वी०, रेडियो, साहित्य व चलचित्र आदि, पर कठोर प्रतिबन्ध लगाते है और इन माध्यमों पर अपने पक्ष में प्रचार कराने के लिए दबाव बनाते है।

अधिनायकवादी शासन सत्ता में अपनी पकड़ बनाये रखने के लिए जनता में उग्र राष्ट्रवाद की भावना भड़काते है और जनता को देश प्रेम के नाम पर अंध भक्त बना देते हैं जहाँ वे अपने शासक का पूर्ण समर्थन करते है।

## 8.10 अधिनायकतंत्र के गुण व दोष

अधिनायकतंत्र का प्रमुख गुण है शासन व्यवस्था में कुशलता व एकता बनाये रखना। अधिनायकवादी शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण शासन एक ही व्यक्ति के हाथों में होने के कारण कानूनों के निर्माण व शासन के निर्णयों में अतिशीघ्रता होती है और उसका विरोध नहीं होता है। अधिनायकतंत्रीय शासन में सत्ता के कार्यों का विभाजन नहीं होता और सभी कार्यों को एक ही व्यक्ति सम्पादित करता है। इस कारण निर्णय निर्माण की प्रक्रिया सरल हो जाती है। संकटकाल में घड़ी में भी अधिनायकतंत्र अधिक सक्षम और उपयुक्त होता है क्योंकि आन्तरिक व वाह्य सभी तरह के निर्णय एक ही व्यक्ति द्वारा लिए जाते हैं। इटली व जर्मनी के प्रमाण देखें तो यह भी स्पष्ट है की अधिनायकतंत्रीय शासन व्यवस्था राष्ट्रीयवादी भावनाओं को जाग्रत करने में बहुत प्रभावशाली होती है।

उपरोक्त गुणों के बावजूद अधिनायकतंत्र में कुछ दोष भी पाए जाते हैं जैसे की इसमें व्यक्ति और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कोई महत्ता नहीं है। व्यक्ति अपनी योग्यता व विवेक के बल पर समाज व राष्ट्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। किन्तु इस शासन व्यवस्था में व्यक्ति पर अनेक अंकुश होते है जो मानव विवेक, तर्क और योग्यता का अंत कर देते है। अधिनायकवादी राज्य जनता को युद्ध के लिए उत्साहित रखता है। अधिनायकवादी शासन अपने समर्थन को मजबूत करने के लिए एक शत्रु देश या विशेष समुदाय के प्रति द्वेष पर निर्भर करते हैं जिससे युद्ध की प्रवृति को प्रोत्साहन मिलता है।

इस शासन व्यवस्था में सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होने के कारण सत्ता का दुरूपयोग होता है और सत्ताधिकारी निरंकुश होता है। इस कारण अधिनायकतंत्रीय शासक अत्याचार और अनैतिकता का रास्ता अपना लेता है। यह शासन व्यवस्था अपना विरोध स्वीकार नहीं करती और एक योग्य उत्तराधिकारी को उठने का अवसर नहीं प्रदान करती। ऐसे में अच्छे प्रशासन को बनाये नहीं रखा जा सकता।

इस सम्बन्ध में लार्ड एक्टन का कथन उचित है कि "शक्ति भ्रष्ट करती है और निरंकुश शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट करती है।"

अभ्यास प्रश्न

1. "प्रजातंत्र केवल सरकार का ही रूप नहीं है वरन राज्य और समाज का रूप अथवा इन तीनों का मिश्रण है"- यह किसने परिभाषित किया।

i)गिडिंग्स ii) डायसी iii) हर्नशॉ iv)ब्राइस

2. "लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था जनप्रभुता पर आधारित है"- सही / गलत

3. अधिनायकतंत्र का सबसे बड़ा योगदान जनता को स्वतन्त्रता और समानता प्रदान करना है- सही/गलत

## 8.11 सारांश

लोकतंत्र की कमियों को ध्यान में रखते हुए अनेक विचारक इस बात का समर्थन करते हैं कि लोकतंत्रीय शासन व्यवस्था के स्थान पर अधिनायकतंत्रीय शासन व्यवस्था को ग्रहण कर लिया जाना चाहिए। यही शासन व्यवस्था प्रशासन में सुधार कर नागरिकों के प्रति विश्वास पैदा कर सकती है। किन्तु यह व्यवस्था किसी भी स्थिति में स्थाई रूप से सुधार करने में समर्थ नहीं हो सकती क्योंकि अधिनायकवादी शासकों के पास निरंकुश शक्ति होने के कारण वह कुछ समय बाद भ्रष्ट व अत्याचारी हो जाते है। इसलिए लोकतंत्र में व्याप्त कमियों को दूर करने की आवश्यकता है, न कि लोकतंत्र के स्थान पर अधिनायकतंत्र को अपनाने की आवश्यकता है। लोकतंत्र में चाहे कितनी भी खामियों हो, अधिनायकतंत्र उसका स्थान नहीं ले सकता क्योंकि लोकतंत्रात्मक शासन व्यवस्था ही मानव की गरिमा, उसके

व्यक्तित्व के सम्मान और शासन कार्य में उसकी सहभागिता सम्भव बनाने का श्रेष्ठतम साधन है। इस सम्बन्ध में स्मिथ का कथन है "लोकतंत्र की सभी कमियों का निदान लोकतंत्र के द्वारा ही सम्भव है।"

लोकतन्त्र केवल शासन का ही रूप नहीं, यह जीवन का ढंग भी है। इसमें व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास संभव है। यह व्यक्ति जीवन के विभिन्न पहलुओं को अलग-अलग करके नहीं, सम्मिलित रूप से विकसित होने का अवसर प्रदान करने वाली व्यवस्था है। इक्कीसवीं सदी में लोकतंत्र की वैधता और लोकप्रियता इससे स्पष्ट होती है की प्रशासनिक अकुशलता, भ्रष्टाचार इत्यादि जैसी आलोचनाओं के बावजूद कुछ राज्य अधिनायकतंत्र होते हुए भी लोकतांत्रिक होने का दावा करते हैं।

## 8.12 शब्दावली

लोकप्रिय संप्रभुता- ऐसी संप्रभुता जो जनसहमती पर आधारित हो।

संप्रभुता – राज्य को प्राप्त सर्वोच्च्ज शक्ति जिसके कारण वह अपने आतंरिक तथा बाह्य मामलों में पूर्णतः स्वतंत्र होता है।

निरंकुश- जिस पर किसी भी प्रकार का अंकुश न हो।

संविधान- राज्य की मूल विधि जो राज्य और सरकार का आधार होती है।

## 8.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- गिडिंग्स

2- सही

3- गलत

## 8.14 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. लास्की -----द प्राब्लम्स आफ सावरिन्टी

2. हेसिये ----पॉलिटिकल प्लूरेलिज्म

3. ज्ञान सिंह सन्धु -- राजनीति के सिद्धान्त, ग्रन्थ विकास, जयपुर

4. डॉ0वी0एल साह व डॉ नीता बोरा, राजनीतिक विज्ञान का परिचय, अंकित प्रकाशन हल्द्वानी।

5. ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्वान्त की रूपरेखा, मजूर पे परबैम्स नोएडा।

6. डॉ पुष्पेश पाण्डे व डॉ विजय प्रकाश पन्त, राजनीतिक सिद्वान्त,जगदम्बा पब्लिसिंग कम्पनी नई दिल्ली।

7. तिवारी, बी.के. (2005) राजनीती विज्ञान के सिद्धांत, न्यू रॉयल बुक कंपनी

## 8.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति के सिद्धान्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय

2. जे0सी0जौहरी एवं सीमा चौधरी ----आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त , स्टर्लिंग पब्लिकेशन प्रा0 लि0 नयी दिल्ली

## 8.16 निबंधात्मक प्रश्न

लोकतंत्र से आप क्या समझते हैं? लोकतंत्र के गुण और दोषों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें।

विकासशील देशों में लोकतंत्र के सामने आने वाली चुनौतियों का मूल्यांकन करें।

लोकतंत्र के विकल्प के रूप में अधिनायकतंत्र का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें।

# इकाई 9 : राजनीतिक दल

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 दल, अर्थ एवं परिभाषा

9.4 आवश्यक तत्व

9.5 राजनीतिक दल के कार्य

9.6 दलीय व्यवस्था के गुण

9.7 राजनीतिक दलों के दोष

9.8 दलीय प्रणलियाँ (वर्गीकरण)

9.8.1 लॉ पालोम्बरा की दल व्यवस्था (वर्गीकरण)

9.8.2 सारटोरी की दल व्यवस्था

9.8.3 इलाण्डेल का वर्गीकरण

9.8.4 अमाण्ड का वर्गीकरण

9.8.5 एलन वाल का वर्गीकरण

9.8.6 मिचेल्स का वर्गीकरण

9.8.7 डूवर्जर का वर्गीकरण

9.9 दलीय व्यवस्था के प्रकार

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 अभ्यास के प्रश्न

9.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

9.14 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.16 निबन्धात्मक प्रश्न

## 9.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल प्रजातान्त्रिक तथा उत्तरदायी शासन के लिए अपरिहार्य है। राजनीतिक दलों के अभाव में प्रजातन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिक प्रजातन्त्रों में प्रजातन्त्र का संचालन राजनीतिक दलों के द्वारा ही होता है। राजनीतिक दल ही राजनीतिक चेतना के केन्द्र होते हैं। सम्पूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया राजनीतिक दल के इर्दगिर्द घूमती दिखायी पड़ती है। ये प्रत्येक शासन प्रणाली में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। ये महत्वपूर्ण कार्य निष्पादित करते हैं। इनका प्रत्येक व्यवस्था में विशिष्ट स्थान है यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने राजनीतिक दलों को अदृश्य सरकार कहा है।

## 9.2 उद्देश्य

इकाई के निम्न उद्देश्य हैः-

- राजनीतिक दलों का अर्थ एवं कार्यों से परीचित कराना।
- राजनीतिक दलों के विभिन्न वर्गीकरण का ज्ञान कराना।
- राजनीतिक दलों के आवश्यक तत्व तथा प्रकारों का ज्ञान कराना।
- राजनीतिक दलों के गुणों, दोषों से विद्यार्थियों को परीचित कराना।
- दलीय व्यवस्था के प्रकार का वर्णन करना।

## 9.3 दल का अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य भाषा में व्यक्तियों के किसी समूह को जो एक समान उद्देश्य की प्राप्ति हेतु कार्य करता है दल कहा जाता है। यदि दल का उद्देश्य राजनीतिक है तो वह राजनीतिक दल कहलाताहै। विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक दल की अलग-अलग परिभाषा दी है-

बर्क के शब्दों में - ''राजनीति दल ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जो किसी राष्ट्रीय हित की पूर्ति के लिए किसी एक विशिष्ट सिद्धान्त को आधार मानकर जिसमें वे सहमत हों, अपना संगठन करते है।''

गेटेल के शब्दों में - ''राजनीतिक दल प्रायः नागरिकों का ऐसा समुदाय है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करता है तथा अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को संगठित करना तथा सामान्य नीति को पूर्ण करना चाहता है।''

लीकॉक के शब्दों में - ''राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो इकट्ठे मिलकर राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक मामलों में एक से होते हैं और सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं।''

गिलक्राइस्ट के शब्दों में - ''राजनीति कद नागरिकों के उस समूह को कहते हैं जिसमें सभी सदस्यों के राजनीतिक विचार एक से होते हैं। तथा जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करके सरकार को नियन्त्रित करने का काम करते हैं।''

## 9.4 राजनीतिक दलों के आवश्यक तत्व

राजनीतिक दलों की उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर राजनीतिक दलों के निम्न आवश्यक तत्व बताये जाते हैं-

1.आधारभूत सिद्धान्तों के एकता- राजनीतिक दल के लिए आवश्यक है कि उसके कुछ प्रमुख सिद्धान्त हों। इसमें शामिल हो रहे लोगों के लिए आवश्यक है कि वे उन सिद्धान्तों पर एकजुट हों । सभी सदस्यों का सिद्धान्तों पर मतैक्य होना चाहिए। यदि सिद्धान्तों के आधार पर मतभेद होंगे तो सभी एकजुट नहीं हो पायेंगे और लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

2.संगठन- समान विचार वाले लोग यदि संगठित नहीं होंगे तो वह राजनीतिक दल नहींवरनभीड़ बनकर रह जायेंगे। संगठन एक शक्ति का प्रतीक है। संगठन का आश्य नियम, अनुशासन एवं पदसोपान से है। जिसमें कार्य विभाजन है तथा उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकें। अतः बिना संगठन बनाये राजनीतिक दलों की कल्पना नहीं की जा सकती।

3.वैधानिक उपायों में विश्वास- राजनीतिक दलों के लक्ष्य होते हैं उसे लागू करने के लिये वे सत्ता प्राप्ति करना चाहते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति कि लिए वे विभिन्न प्रयास करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रयास संवैधानिक होने चाहिए। संविधान विरूद्ध किया गया प्रयास राजनीतिक दलों के लिए स्वीकार्य नहीं है। हिंसा में , क्रान्ति में विश्वास रखने वाले संगठन राजनीतिक दल नहीं हो सकते।

4.राष्ट्रीय हित का संवर्धन- राजनीतिक दल के लिए आवश्यक है कि वे किसी जाति, धर्म, वर्ग के हित को दृष्टि में रखकर कार्य न करें। उनके लिए आवश्यक है कि वे सार्वजनिक हित की पूर्ति करे। राजनीतिक दल संकीर्ण, स्वार्थ, जातिगत, धार्मिक हित की पूर्ति के लिए नहीं बन सकते।

5.सत्ता प्राप्ति की लालसा- राजनीतिक दल निश्चित सिद्धांतों पर एकजुट हुए लोगों का समूह होता है। वे उन सिद्धान्तों को सार्वजनिक हित के लिए लागू करना चाहते हैं। इन सिद्धान्तों को लागू करने के लिए आवश्यक है दल को सत्ता प्राप्त हो। अतः सत्ता प्राप्ति की लालसा भी राजनीतिक दल का आवश्यक तत्व है।

## 9.5 राजनीतिक दलों के कार्य

हर प्रकार की शासन प्रणालियों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व होता है। वह चाहे लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली हो या अधिनायकतन्त्र सभी में राजनीतिक दल दिखायी पड़ते हैं। यह अलग बात है कि लोकतन्त्र में उनकी भूमिका बेहद महत्वपूर्ण एवं प्रभावी होती है, जबकि अधिनायकतन्त्र में केवल सजावट की वस्तु बन कर रह जाते हैं लोकतन्त्र का संचालन ही राजनीतिक दल करते हैं। वे लोकमत का निर्माण करते हैं, राजनीतिक चेतना जागृत करते हैं तथा निरन्तर प्रयासों से सामान्य जन का विश्वास लोकतन्त्र में बहाल रखते हुए मतदान सुनिश्चत करवाते हैं। लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के प्रमुख कार्य निम्न हैं-

1.राजनीतिक चेतना का प्रसार- लोकतन्त्र को व्यवहार में लाने का सम्पूर्ण श्रेय राजनीति दलों को जाता है। जनता के सजग कर, उनसे राजनीतिक कर्तव्य कराने का कार्य राजनीतिक दल ही करते हैं। विभिन्न दल अपने पत्र, पत्रिकाओं, विज्ञापनों के माध्यम से जनता को सूचनायें, नीतियाँ प्रदान करते हैं। वे राष्ट्रीय समस्याओं पर जनता का ध्यान आकृष्ट कराते हैं। विभिन्न राजनीतिक दल विभिन्न समस्याओं पर अपना मत देकर आम जनता को विकल्प देते हैं। वे प्रेस, समाचार पत्रों के माध्यम से अपने विचार देते हैं- लोवेल के शब्दों में - ''राजनीतिक दल' राजनीतिक विचारों के दलाल हैं।''

2.जनमत का निर्माण करना- यह राजनीतिक दलों का महत्वपूर्ण कार्य है। वे लोकमत निर्माण में प्रभावी भूमिका अदा करते हैं। विभिन्न मुद्दों पर वह अपने दल की राय से लोगों को अवगत कराते हैं। उनकी यह राय जटिल प्रश्नों को समझने में आमजनता की मदद करती है। राजनीतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम, सभायें, गोष्ठियाँ अंततः लोगों को जागरूक कर उनकी अपनी राय निर्मित करवाती है। लोगों की सार्वजनिक हित में बनी राय का योग ही लोकमत होता है। अतः इसमें राजनीतिक दलों की महती भूमिका रहती है। ब्राइस के शब्दों में- लोकमत को प्रशिक्षित करने उसके निर्माण एवं अभिव्यक्ति करने में राजनीतिक दलों के द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किये जाते हैं।''

3.कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के बीच की कड़ी- राजनीतिक दल व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में सम्पूर्ण सूत्र का कार्य करते हैं। वे मध्यस्थ की भूमिका अदा करते हैं। संसदीय शासन में सरकार एवं विधायिका के मध्य संवाद तथा जनता की आकांक्षाओं को सरकार तक पहुँचाने का कार्य दल करते हैं। अध्यक्षात्मक शासन शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर कार्य करता है फिर भी उसमें गतिरोध उत्पन्न नहीं हो पाता तो उसमें महत्वपूर्ण भूमिका राजनीतिक दल अदा करते हैं। अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राजनीतिक दलों के कारण ही सामंजस्य स्थापित रहता है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में - ''दलीय पद्धति ऐसा तरीका है। जहां अमेरिकी संविधान की कठोरता का दोष कम हो गया है।''

4.सरकार पर अंकुशः-राजनीतिक दल के कारण सरकारें निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी शासन नहीं कर पाती हैं। राजनीतिक दल सत्तारूढ़ दल की गलत नीतियों का प्रसार करते हैं और सार्वजनिक मंचों से भर्त्सना करते है। इस पूरी प्रक्रिया में

सरकार के विरूद्ध जनमत निर्माण होता है। विपक्षी दल भी सरकार के ऊपर गलत नीतियाँ वापस लेने का दबाव बनाते हैं। विपक्ष वैकल्पिक सरकार के रूप में अपने को प्रस्तुत करता है। यही कारण है की राजनीतिक दलों की मौजूदगी सरकार पर अंकुश लगाती है। लास्की के शब्दों में - ''राजनीतिक दल देश में तानाशाही से रक्षा के सर्वश्रेष्ठ साधन है।''

5.विशेष नीति के संचालन के लिये विधायिका में एकता- प्रत्येक राजनीतिक दल विधायिका में एकता स्थापित करता है। प्रत्येक राजनीतिक दल का उम्मीदवार अपने दल की नीति एवं कार्यक्रम निर्वाचन के समय जनता के बीच रखते हैं। समय-समय पर अपने दल के सदस्यों को अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से अनुशासित करना होता है। राजनीतिक दल अपने सदस्यों को नियन्त्रित करते हैं। वे अपने दल के सदस्यों को अपनी नीतियों के प्रति सचेत करते हैं। वे दल की नीतियों के विरूद्ध आचरण करने वाले लोगों के प्रति कठोर कार्यवाही कर दलीय अनुशासन एवं एकता को बनाते हैं।

6.जनता एवं सरकार के बीच कड़ी- राजनीतिक दल जनता तथा सरकार के बीच संपर्क का कार्य करते हैं। सरकार द्वारा बनायी गई नीति के प्रति जनता के रवैया का आँकलन राजनीतिक दल करते हैं, वे इसकी सूचना सरकार तक पहुँचाते हैं। वे आवश्यकता पड़ने पर जनमत बिगड़ने से बचाने के लिए सरकार को चेतावनी ही नहीं देतेवरननीतियों, कार्यक्रमों में आवश्यक फेरबदल भी करते हैं। अतः जनता एवं सरकार के बीच कड़ी की महत्वपूर्ण भूमिका वह अदा करते हैं।

7.चुनाव का संचालन- आज सार्वभौम वयस्क मताधिकार, बढ़ी जनसंख्या, बड़े निर्वाचन क्षेत्र के कारण चुनाव पहले की तुलना में अधिक जटिल हो गये हैं। आज सफल निर्वाचन की कल्पना राजनीतिक दलों के अभाव में नहीं की जा सकती। वे प्रत्याशियों का चयन, चुनाव-प्रचार, चुनाव संचालन, मतदान तथा मतगणना तक निरंतर व्यवस्था बनाने में सक्रिय रहते हैं। उनके इस महत्वपूर्ण कार्य पर फाइनर ने लिखा है-''राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असंभव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक यंत्र को नष्ट कर दिया जायेगा।''

8.सरकार का निर्माण- आम निर्वाचन के बाद विजयी राजनीतिक दल सरकार का निर्माण करते हैं। संसदात्मक शासन में विधायिका के निम्न सदन में बहुमत प्राप्त दल का नेता प्रधानमंत्री बनता है तथा वह अपना मन्त्रिमण्डल (सरकार) बनाता है। वही अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति के चुनाव के बाद राष्ट्रपति स्वतन्त्र रूप से सरकार का निर्माण करता है। अतः कहा जा सकता है कि संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक दोनों ही शासन प्रणलियों में सरकार का निर्माण राजनीतिक दल करते हैं। राजनीतिक दलों के अभाव में विधायिका के सदस्य नियन्त्रण मुक्त होकर 'अपनी ढपली अपना राग' अपना सकते हैं। यह देशहित, जनहित के लिए ठीक नहीं हो सकता। अतः राजनीतिक दल के अभाव में प्रभावी सरकार का निर्माण असंभव है।

## 9.6 दलीय व्यवस्था के गुण

राजनीतिक दलों के विषय में अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि यह लोकतन्त्र के लिए आवश्यक है। इनमें अनेक अच्छाइयाँ हैं। बिना राजनीतिक दलों के आदर्श शासन व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती । ये जनमत निर्माण से लेकर सरकार बनाने एवं नीतियों को क्रियान्वित कराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण गुण निम्नलिखित हैं-

1.राजनीतिक चेतना के साधन हैं- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है। वे राजनीतिक चेतना का प्रसार करते हैं। वे जन जागरण अभियान चलाकर जनता की निद्रा भंग करते हैं। वे अपने कार्यक्रमों, गोष्ठियों, सभाओं से जनता से न केवल जागरूक बनाते हैंवरनउनमें राजनीतिक चेतना जागृत करते हैं। वे जनता की उदासीनता को मिटाने का कार्य करते हैं। वे नागरिक कर्तव्यों की ओर लोगों को प्रेरित करते हैं। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

2.सरकार पर नियन्त्रणः- राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है। राजनीतिक दल ही सरकार पर पैनी नजर रखते हैं। वे सरकार की नीतियों , कार्यक्रमों का विश्लेषण करते है और उसको जनता में प्रचारित करते है। राजनीतिक दल ही अपने वैकल्पिक सरकार के रूप में प्रस्तुत करते है। वे सरकार का विपक्ष के माध्यम से सदन में चेतावनी देते है। आम जनता में विरोध प्रदर्शन, धरना आदि के द्वारा सरकार विरूद्ध चलाकर लोकमत को सरकार के विरूद्ध करते हैं। राजनीतिक दलों के इन कार्यों से सरकार पर नियन्त्रण लगता है। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

3.राजनीतिक शिक्षा के माध्यमः- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है। वे लोकतन्त्र में जनता को सर्वाधिक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। वे सघन सदस्यता अभियान, जनसंपर्क अभियान से जनता से संवाद कायम करते हैं। वे राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर, सामाजिक, आर्थिक नीतियों पर अपनी राय से जनता को अवगत करा आम जनता का ज्ञान बढ़ाते हैं। यह राजनीतिक दल ही हैं जो नागारिकों को मतदान, सरकार निर्माण, सरकार पर नियन्त्रण की विधियों से अवगत कराते हैं।

4.शासन के विभिन्न अंगों में तालमेल के साधनः- राजनीतिक दलों का यह प्रमुख गुण है कि विधायिका एवं कार्यपालिका में सामंजस्य स्थापित करते हैं। यदि गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो यह देशहित में नहीं होता है। दलों के सदस्य सरकारों के कार्यक्रमों, नीतियों से विधायिका को ने केवल अवगत कराते हैंवरनविश्वास में भी लेते हैं। वे विधायिका को विश्वास में कर नीतियों को क्रियान्वयन आसान बनाते हैं। यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है।

5.दल एवं सरकार के सदस्यों पर नियन्त्रणः- राजनीतिक दल चुनाव में अपने ही दल के सदस्यों को चुनाव में टिकट देते हैं। चुनाव जीतने के बाद ये सभी सदस्य दलीय अनुशासन में रहते हैं। ये सरकार में शामिल होने के बाद भी दलीय अनुशासन से बँधे रहते हैं। दल सदैव उनसे दल के निर्देशांे के पालन की अपेक्षा करते हैं। राजनीतिक दल सदस्यों को अनुशासन एवं नियन्त्रण में रखने का महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

6.सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों का संचालनः- राजनीतिक दल सुप्त अवस्था में नहीं रहते। उन्हें लोकमत को अपने पक्ष में करना होता है, यदि है तो उसे बनाये रखने का प्रयास करना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे निरंतर सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम चलाते रहते हैं। ये सामाजिक आर्थिक कार्यक्रम सरकार एवं आम नागरिकों दोनों के लिए हितकर होते हैं। यह राजनीतिक दल का विशेष गुण है कि इन कार्यक्रमों का संचालन।

7.स्थाई एवं श्रेष्ठ सरकार की स्थापनाः- यह राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है कि वह जिस भी व्यवस्था में रहते हैं, वहां पर स्थाइ एवं श्रेष्ठ सरकार का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दल ही हैं जो लोकमत को किसी दल विशेष के पक्ष में बनाते हैं और उनके ही प्रयास से आम जनता मतदान केन्द्रों तक जाकर मतदान करती है। अतः वे ही स्थाई सरकार के निर्माण के मूल में होते हैं। उन्हीं के दबाव में सरकारें जनकल्याण के कार्यक्रम चलाती है।

8.निरंकुशता से मुक्तिः- राजनीतिक दलों का प्रमुख गुण है। वे आम नागरिकों को सचेत कर उनके समर्थन से सरकारों के ऊपर नैतिक नियन्त्रण रखते हैं। सरकारें राजनीतिक दलों द्वारा बनाये गये लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकती। वे जनमत के खिसकने का जोखिम नहीं उठा सकती। अतः वे जन आकांक्षाओं के अनुरूप नीतियां एवं कार्यक्रम बनाते हैं। यह राजनीतिक दलों का विशेष गुण है और इसी से सरकारों की निरंकुशता से मुक्ति मिलती है।

9.राष्ट्रीय एकता के साधनः- राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता के साधन हैं। राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांधते हैं। इनकी सदस्यता सभी धर्मों, जातियों एवम् सभी क्षेत्र के लोगों के लिये होती हैं। ये अपने अभियान, कार्यक्रमों से सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र में बांधतें हैं। यह राष्ट्रीय एकीकरण का माध्यम बनते हैं।

10.श्रेष्ठ कानूनों का निर्माणः- विधायिका में कानून बनता है। बहुमत प्राप्त दल ही सदैव कानून बनवाने में अग्रणी भूमिका में रहते हैं। लोकमत के भय से, जनता से किये वायदों के अनुरूप व कानून बनाती है। यदि वे व्यक्तिगत कारणों से सार्वजनिक हित छोड़ती हैं तो अन्य राजनीतिक दल सदन में तथा सड़क पर उनका विरोध करते हैं। उनकी गतल, समाजविरोधी नीतियों की आलोचना करते हैं।

## 9.7 राजनीतिक दलों के दोष

राजनीतिक दल किसी भी शासन के लिये आवश्यक हैं। इनमें अनेक अच्छाइयाँ हैं। इसके साथ इसमें अनेक दोष भी दिखायी पड़ते हैं। हाल ही में उभरी नई राजनीतिक प्रवृत्तियों ने सिद्ध किया है कि राजनीतिक व्यवस्था में जो दोष दिखायी पड़ रहे हैं। उसका मूल कारण राजनीतिक दल हैं। अमेरिकी संविधान निर्माता तो राजनीतिक दलों से व्यवस्था को मुक्त रखना चाहते थे। राजनीतिक दलों के प्रमुख दोष निम्न है-

1.दलों द्वारा नैतिकता एवं आदर्शों का त्यागः- हर राजनीतिक दल का उद्देश्य चुनाव जीतकर सत्ता को प्राप्त करना होता है। प्रत्येक दल निर्वाचन के समय 'चेन केन प्रकारेण' चुनाव जीतना चाहता है। ऐसे में ये दल सभी आदर्शों को त्यागकर प्रतिद्वन्दी नेता पर व्यक्तिगत हमले करना, छवि धूमिल करना, उनके निजी जीवन की सी0डी0 बनाकर जनता में वितरित करते हैं। वे चुनाव में मतदाताओं को लुभाने के लिए शराब , पैसे एवं अन्य अनैतिक साधनों का खुलकर प्रयोग करते हैं।

2.दलीय अनुशासन से स्वतन्त्रता का अन्तः- राजनीतिक दल लोकतन्त्र की महत्वपूर्ण कड़ी है। यह भी अनोखा संयोग है कि जो लोकतन्त्र नागरिक स्वतन्त्रता के प्रहरी है वहीं दलीय अनुशासन के आधार पर अपने दल के सदस्यों की आवाज का दबा देते हैं। कई बार दल की सदस्यता लेने के बाद व्यक्ति असहाय एवं मजबूर होकर दलीय विचार को स्वीकार करता है। वह अपनी अर्न्तआत्मा एवं अंतःकरण की आवाज को दबाता है।

3.उग्र दलबन्दी का विकासः- राजनीतिक दलों का प्रमुख दोष है। इसमें प्रत्येक दल सत्ता पाने के लिए गलाकाट प्रतियोगिता में लग जाता है। इस कार्य में विभिन्न दल आदर्श प्रतियोगी के स्थान पर उग्र प्रतियोगी हो जाते हैं। इस क्रम में वह कई बार समाज हित, राष्ट्रीय हित की अनदेखी कर जाते हैं। दलीय कड़वाहट इतनी बढ़ जाती है कि राष्ट्रीय हित के मुद्दे, विभिन्न देश हित से जुड़े कानून पास नहीं हो पाते।

4.दलीय स्वार्थों पर बलः- राजनीतिक दल सत्ता प्राप्ति की लालसा रखते हैं। सत्ता पाने के बाद व समाज हित, राष्ट्रीय हित के लिये नहींवरनदलीय स्वार्थ के लिये, व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कार्य करते हैं। इससे समाज में व्यापक असन्तोष पैदा होता है। यह राष्ट्रहित को भी नुकसान पहुँचाता है।

5.भाई-भतीजाबाद एवं भ्रष्टाचार को बढ़ावाः- भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक दलों का सम्बन्ध अब बहुत मजबूत दिख रहा है। इसमें मुख्य रूप से जिम्मेदार महंगी चुनावी प्रक्रिया है। चुनाव में हुए खच्र की भरपाई के लिये ये दल अत्याधिक धनार्जन करते है। कई बार चुनाव में जिन कम्पनियों से धन (चंदा) मिला होता है उसकी भरपाई इस भ्रष्टाचार से करते है। भाई भतीजावाद भी इसी की कड़ी है। दुनिया के अधिकांश देशों में यह रोग फैल रहा है।

6.विधायिका राजनीतिक संघर्ष का अखाड़ाः- आज राजनीतिक दलों की प्रतिस्पर्धा इस स्तर पर पहुँच चुकी है कि वे राजनीतिक संघर्ष में राष्ट्रहित को भुला बैठे हैं। उनमें आपसी विश्वास, तालमेल समाप्त हो गया है। वे एक दूसरे को रचनात्मक सहयोग नहीं दे रहे हैं। आज रोज विधायिका में काम काज बन्द होने की खबर आम हो गई हैं। संसद लड़ाई का अखाड़ा बन गई है। देश हित, समाज हित के लिये अति आवश्यक बिल पास नहीं हो पा रहें हैं।

7.साम्प्रदायिकता को बढ़ावाः- कई बार यह देखा गया है कि दलीय स्वार्थ के लिये राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते हैं। वे धार्मिक आधार पर प्रत्याशियों का चयन करते हैं। कई बार धार्मिक आधार पर मन्त्रिमण्डल में स्थान तय होते हैं। यह संयोग है या कुछ और कि चुनाव से पहले धार्मिक तुष्टिकरण के वायदे किये जाते हैं। कई बार तो चुनाव से पहले दंगों का दौर दिखता है।

8.राष्ट्रीय हितों की अनदेखीः- कई बार राजनीतिक दल राष्ट्रीय हित का संवर्धन नहीं करते। वे दलीय हितों को साधते है। मेरीयट के शब्दों में - ''दलभक्ति की अधिकता से देश भक्ति की आवश्यकताओं पर पर्दा पड़ जाता है। वोट प्राप्त करने के धन्धे पर अत्याधिक ध्यान देने से दलों के नेता अथवा उनके प्रबन्धक देश की उच्चतम आवश्यकताओं को भूल या टाल सकते हैं।''

9.योग्य व्यक्तियों की उपेक्षाः- शासन भी एक कला है। यह एक सम्पूर्ण देश के करोड़ों लोगों को प्रभावित करता है। दुर्भाग्यवश इस महत्वपूर्ण कार्य की जिम्मेदारी दलीय बाध्यताओं के कारण सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के हाथ में नहीं आ पाती। योग्य व्यक्ति कई बार राष्ट्रीय हित, सामाजिक हित के लिये दलीय स्वार्थों के विरूद्ध मुखर हो जाता है। कतिपय यही कारण है कि आज योग्य व्यक्तियों का अभाव व्यवस्था में दिखायी पड़ रहा है।

दलीय दोषों अथवा दलबन्दी से बचने के उपायः- इससे बचने के लिये कुछ सुझाव कारगर हो सकते हैः-

1.राजनीतिक शिक्षा का प्रसार

2.आर्थिक विषमता को कम करना

3.सीमित दलीय व्यवस्था

4.कम खर्चीले चुनाव

5.राजनीति से अपराधी, भ्रष्टाचारी को दूर करना

6.दलीय लोकतन्त्र की बहाली

7.व्यापक चुनाव सुधार

## 9.8 दलीय प्रणालियाँ (वर्गीकरण)

आधुनिक दलीय प्रणलियों की समीक्षा करते हुए डुवर्जर ने कहा-'' किसी भी देश में लम्बे समय तक राजनीतिक दलों की संख्या, उनकी संरचना, विचारधारओं उनके समझौतों तथा विपक्ष में स्थायित्व आ जाता है।'' इसी के आधार पर किसी भी देश के दलीय प्रणाली को समझा जा सकता है। इस संबंध में अमाण्ड, जेम्स जप, हिचनर , डूबर्जर , ला पालोम्बरा , सारटोरी आदि ने विस्तृत विश्लेषण किया।

### 9.8.1 ला पालोम्बरा की दलीय व्यवस्था

ला पालोम्बरा ने दल व्यवस्था के प्रकार का निर्धारण करते समय राजनीतिक दलोंमेंनिम्न लक्षणों का आवश्यक माना-

(1) राजनीतिक दल की विशेषतायें एवं लक्षण।

(2) दलों के आपसी संबंध।

(3) दलों का समाज के अन्य घटकों के साथ संबंध।

(4) दलों के कार्यप्रणाली को प्रभावित करने वाले तत्व।

पालोम्बरा एवं वीनर दोनों ही ने इस आधार पर दल व्यवस्था को स्पष्ट रूप से दो भागों में बाँट दियाः-

(1) प्रतियोगी दल व्यवस्थायें

(2) अप्रतियोगी दल व्यवस्थायें

### 9.8.2 साराटोरी की दल व्यवस्थाः-

साराटोरी ने दूसरी तरफ वर्गीकरण में दलों की संख्या को आधार माननाभ्रांतिपूर्ण माना। उसकी मान्यता थी कि दलों के वर्गीकरण में इनके वैचारिक फासले, वैचारिक उग्रता, सत्ता काल अथवा सत्ता में आने की संभावना को ध्यान में रखने की बात कही। सारटोरी ने दल व्यवस्था का वर्गीकरण करने में त्रिमुखी आधार को स्वीकार किया-

(1) राजनीतिक दलों की संख्या

(2) दलों की विचारधारा एवं प्रकृति

(3) दलों में विखण्डन की मात्रा

सारटोरी ने एक तरफ संख्या के आधार पर किया गया वर्गीकरण को गलत मानते हुए भी उसे पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया। उसकी मान्यता थी कि दलों की संख्या अपने आप में दलों के लक्षण प्रकट करने वाली है। अतः इसे छोड़ा नहीं जा सकता है। उसने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा कि किसी भी व्यवस्था में दो दलों का होना राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक दलों, निर्वाचन प्रणलियों के बारे में बहुत कुछ तथ्य प्रस्तुत कर देताहै ।

### 9.8.3 बलोण्डेल का वर्गीकरण

बलोण्डेल ने दलीय प्रणाली ने इसके ठीक विपरीत केवल संख्या के आधार पर किसी देश की प्रणाली को समझने को अधूरा प्रयास बताया। वह इसके विपरीत दल प्रणाली के वास्तविक रूप, उसकी प्रकृति, उसके विकास की स्थिति, दलों के संबंधों को वर्गीकरण का आधार मानता है। इसके साथ ही वह दलीय विविधता के महत्व को समझते हुए कहता है कि निम्न तत्व भी दलीय प्रणाली को समझने में कारगर हो सकते है-

(1) राजनीतिक दलों की क्रियाकलाप की दृष्टि से गणना तथा देश की राजनीति में भूमिका।

(2) राजनीतिक व्यवस्था में दल की शक्ति, दल के माप में दल की सदस्य संख्या मतदान प्रतिशत, तथा व्यवस्थापिका में प्राप्त स्थानों को आधार बनाया जा सकता है।

(3) दलों में विचारधारा संबंधी अंतर।,(4) दलों का संगठन,(5) दलों के समर्थन का आधार।

**बलोण्डेल ने इन** पाँच तत्वों के आधार पर राजनीतिक दलों के पाँच प्रकार बताये हैः-

(1) एक दलीय व्यवस्था,(2) द्वि दलीय व्यवस्था,(3) ढा़ई दलीय व्यवस्था,

(4) एक दल प्रधान बहुदलीय व्यवस्था

(5) बहुदलीय योग दल

### 9.8.4 अमाण्ड का वर्गीकरण

अमाण्ड ने राजनीतिक दलों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें चार भागों में बांटा-

(1) तानाशाही अथवा सर्वसत्तावादी दल ,(2) प्रमुखता प्राप्त लोकतान्त्रिक दल

(3) प्रतिस्पर्धात्मक दो दल ,(4) प्रतिस्पर्धात्मक बहु दल

इसके अतिरिक्त हिचनर और लेवाइन ने राजनीतिक दल प्रणाली को पाँच भागों में विभक्त किया हैः-

(1) प्रतिस्पर्धा पूर्ण दो दलीय प्रणाली ,(2) प्रतिस्पर्धा पूर्ण बहु दलीय प्रणाली ,(3) प्रमुखतापात्र लोकतान्त्रिक प्रणाली.(4) अधिनायकवादी दलीय प्रणाली .(5) दलीय प्रणलियों रहित राज्य

### 9.8.5 एलन वॉल का वर्गीकरण

एलन वॉल के अनुसार दल प्रणाली के कई वर्गीकरण किये जा सकते है। वह मानता था कि दल व्यवस्था की अधिकाधिक संख्या के कारण कोई भी वर्गीकरण पूर्णतया सही नहीं होगा। वर्गीकरण के आधारों की अनेकता के कारण वर्गीकरण कठिन हो गया है। वह मानता है कि दलों का संचालन दलीय पद्धति के अर्न्तगत होता है और इसका प्रभाव दल के आचरण पर पड़ता है। दलों की संख्या के आधार पर भी वर्गीकरण सही नहीं है। बड़े दलों की संख्या समान होते हुए भी दल व्यवस्थाओ के बीच बड़े अंतर होते है। एक दलीय, द्विदलीय और बहुदलीय व्यवस्थाओं के बीच अतर करने पर ब्रिटिश सवं अमेरिकी दलीय व्यवस्था एक समूह में तथा इटली तथा स्वीडन की दल पद्धतियों

को एक साथ नहीं रखा जा सकता। वाल ने दलों की संख्या, उनकी संरचना, उनकी शक्ति को आधार बनाकर दलों का वर्गीकरण किया। उसका दलीय वर्गीकरण इस प्रकार हैः-

(1) अस्पष्ट द्वि दलीय पद्धतिः- यह अस्पष्ट विचारधाराओं पर आधारित दलीय व्यवस्था है। इसमें येनकेन प्रकारणे मत प्राप्त करने तथा चुनाव जीतने पर बल दिया जाता है। इसमे दलीय व्यवस्था केन्द्रीकृत होती है। तथा व्यक्ति आधारित होती है। इसमें व्यक्ति के गुणों को दलीय सिद्धान्तों पर वरीयता दी जाती है। अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था इसका आदर्श उदाहरण है।

(2) सुस्पष्ट द्विदलीय पद्धतिः- सुस्पष्ट द्विदलीय व्यवस्था में दल अधिकाधिक केन्द्रीकृत होते है। जर्मनी तथा आस्ट्रेलिया में ऐसा स्पष्ट दिखता है। इसमें विचारधारओं का महत्व होता है तथा चुनाव में विचारधारा के आधार पर दलों में स्पष्ट अंतर दिखायी पड़ताहै । ब्रिटेन की व्यवस्था में भी यही लक्षण पाया जाता है।

(3) कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्थाः- यह वह दलीय व्यवस्था है जिसमें दो से अधिक दल होने के बावजूद वह द्विदलीय व्यवस्था का आभास कराती है। इन देशों में सरकार की स्थिरता पर मतदाताओं का बहुत जोर रहता है। वे अपनी जागरूकता का परिचय देते हुए मत विभाजन नहीं होने देते है। यर्थात में वहाँ पर प्रभावी रूप से दो दल ही दिखायी पड़ते है। स्वीडन, नार्वे, आदि देशों में अनेक दल होने के बावजूद दो दलों के बीच में सत्ता का संघर्ष दिखायी पड़ता है।

(4) अस्थिर बहुदलीय व्यवस्थाः- इस व्यवस्था में सरकार की स्थिरता का अभाव रहता है। इसमें सरकारें अल्पमत की अन्य दलों के सहयोग से बनती है। इस प्रकार की दल प्रणाली का सर्वोच्च उदाहरण इटली है। वहाँ पर अधिकतर बहुमत के अभाव में छोटे-छोटे दलों के समर्थन से सरकार का गठन होताहै । इसमें स्थायित्व का अभाव रहता है। एक सरकार के पतन के बाद पुनः अन्य के सहयोग से नई सरकार बन जाती है।

(5) प्रभावी दल पद्धतिः- इस व्यवस्था में दलों के बीच प्रतियोगिता चलने दी जाती है। इस प्रतियोगिता से ऐसे दल का उदय होता है जो अन्य दलों पर छा जाता है। भारत इसका उदाहरण है। भारत में आजादी के बाद 1977 तक कॉग्रेस पार्टी भारतीय शासन व्यवस्था पर छा गई थी। दूसरे दलों को प्रभावी प्रतियोगिता की छूअ प्रदान की गई। भारत में कई बार ऐसे अवसर भी आये है जब छोटे दलों ने अन्य के समर्थन से शासन पर नियन्त्रण स्थापित किया।

(6) एक दलीय पद्धतियाँ - यह वह शासन प्रणाली है जिसमें एक दल का प्रभुत्व रहता है। इसके प्रमाण मिस्त्र तथा तंजानिया में मिलते है। कीनिया में भी एक दलीय व्यवस्था का उदाहरण मिलता है। शेख मुजीब के समय बंगलादेश, जनरल जिया उक हक के समय पाकिस्तान में भी एक दल के शासन का उदाहरण मिलता हे। इस प्रणाली में दलों के बीच चुनावी प्रतियोगिता का पूर्णतया अभाव रहता है। दलों में ही गुट चुनावी खींचतान करने की छूट रखते है।

(7) सर्वाधिकारवादी एक दलीय पद्धतिः- यह पद्धति कई बार एक दलीय पद्धति के साथ जोड़ दी जाती है। इस व्यवस्था में इस दल का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है। इस व्यवस्था में केवल शासकों के द्वारा अभिजनों की भर्ती की जाती है। चीन, सोवियत संघ , यूरोप के पूर्वी जर्मनी की सरकार इसके आदर्श उदाहरण है।

एलन वाल का वर्गीकरण सीमित उपयोगिता वाला है। उसके सिद्धान्त से सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते है। यह सही है कि दल पद्धति के अन्तर्गत होने वाले परिवर्तनों को निर्धारित करना जाटिल होता है। इनका गति को समझ कर सिद्धान्त का रूप देना भी कठिन है।

### 9.8.6 मिचेल्स के विचार

जर्मन विद्वान रार्वअ मिचेल्स ने अपनी पुस्तक श्च्वसपजपबंस च्तवजपमेश् में स्पष्ट किया कि राजनीतिक दल का चरित्र अपने समय की ऐतिहासिक व्यवस्था से निर्धारित होता है। वह मानता है कि जिस दल में निर्णय करने की शक्ति कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित रहती है वहाँ सदैव यह खतरा बना रहता है कि जनता की आक्रोश की आंधी उसे बहा सकती है। इस जोखिम से बचने के लिये प्रत्येक राजनीतिक दल अत्याधिक सदस्य संख्या का विस्तार करता है। इससे दल का आधार व्यापक एवं जटिल हो जाता है।

मिशेल्स आगे स्पष्ट करता है कि किसी भी दल में सारे निर्णण लेने की शक्ति अंततः एक छोटे से समूह या गुटमेंआ जाती है। लेकिन राजनीतिक दल इस गुटीय व्यवस्था को छिपाकर उसे लोकतान्त्रिक दिखाने का प्रयास करते है। इसे मिचेल्स ने ' गुटतनत्र का लौह नियम' (Iron law of Oligarchy) कहा। वह स्पष्ट करता है कि किसी भी शासन व्यवस्था को चलाने के लिये संगठन अनिवार्य होता है। इसी के द्वारा निर्बल पक्ष संबल पक्ष के विरूद्ध संघर्ष करता है। वह कहता है जिनके हित समान होते है वे एकता के साथ अपने लक्ष्य प्राप्त कर लेते है। वह स्पष्ट करता है कि चाहे समाजवादी व्यवस्था हो, पूँजीवादी व्यवस्था हो, सभी अपने-अपने संगठनों से अपने-अपने हितों को साधने का प्रयास करते है। वह इस तथ्य को भी स्पष्ट करता है कि मजदूर पूंजीपति के समक्ष नहीं टिक सकते परन्तु संगठित हो वे इसका मुकाबला कर सकते है। एक दल के रूप में संगठित हो वे पूजीवादी शोषणकारी व्यवस्था को नष्ट कर सकते है। धीरे-धीरे दल मजदूर दल में शासन कर नियन्त्रण नौकरशाही के पास आ जाता है।

वह अपने विचारों में आगे स्पष्ट करता है कि सर्वहारा एवं कमजोर वर्गों के लिये बना दल सत्ता में आने के बाद अपने उद्देश्यों को भूल जाताहै। वह धीरे-धीरे अपने लक्ष्यों से दूर चला जाता है।

मिचेल्स के शब्दों में -'' संगठन का विचार ऐसे तर्कों पर आधारित है जिसमें निर्वाचित लोग निर्वाचकों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते है, जो आशा लेकर आये थे, वे आज्ञा देने लगते है। जो सेवा करने आये थे वे सेवक के स्थान पर स्वामी बन जाते है।''

वह अपने सिद्धान्त के अंत में स्थापित करता है कि कोई भी शासन व्यवस्था , कोई भी दलीय व्यवस्था जनता के हित के स्थान पर दलीय हित और अंततः शासकों के हितों का पोषण करती है। जनता का शासन एक काल्पनिक वस्तु बन जाती है।

### 9.8.7 डूवर्जर का सिद्धान्त

फ्रांसीसी विद्वान डूवर्जर ने अपनी पुस्तक श्च्वसपजपबंस च्ंतजपमेश् में स्पष्ट किया है कि राजनीतिक दलों का उदय एक विशेष प्रक्रिया का परिणाम है। समाम में कुद बिन्दुओं पर सहमति के आधार पर समूह उभरते है। फिर निर्वाचक समितियाँ उभरती है। इन दोनों के मध्य स्थायी संबंध स्थापित हो जाता है। इन स्थायी संबंधों का ही परिणाम '

राजनीतिक दल' का उदय है। राजनीतिक सिद्धान्तों पर एकजुटता के अतिरिक्त भौगोलिग निकटता, व्यवसायिक हितों में समानता भी ऐसे समूहों को जन्म देने में सहायक होती है।

डूवर्जर आगे स्पष्ट करता है कि राजनीतिक दलों का उदय संसद के बाहर भी संभव है। जिस राजनीतिक दल का उदय संसद के अंदर होता है। उसकी कार्यप्रणाली में कुछ वाहय संस्थायें जैसे दार्शनिक समूह, मजदूर समाज, पत्रकार समूह, आदि हस्तक्षेप करने लगते ऐसी संस्थायें संसद के अंदर एवं बाहर दोनों ही स्थान पर दलों को जन्म देने में सक्षम रहती है। इंग्लैण्ड में मजदूर दल को फेवियन सोसाइटी ने जन्म देने में सहयोग प्रदान किया। डूवर्जर का मत था कि जो दल संसद के बाहर उदित होते है उनमें कठोर अनुशासन पाया जाता है। इनमें केन्द्रीकरण की प्रवृति भी बहुत पायी जाती है। संसद के अन्दर पैदा होने वाले दलों में अपने लक्ष्यों की पूर्ति की भावना अधिकाधिक पायी जाती है। डूवर्जर ने दलों का वर्गीकरण इस प्रकार किया हैः-

(1) कॉकस अथवा समूह (समिति) यह दलों के छोटा स्वरूप होता है। ये सदस्यों की गुणवत्ता पर बल देते है। इनका प्रयास कुशलता पूर्वक लक्ष्यों की प्राप्ति होता है। ये सदस्य संख्या पर बल नहीं देते है। ये सामान्यतः विशिष्ट या गणमान्य व्यक्ति होते है। ये प्रायः चुनाव के समय क्रियाशील होते है। बाकी समय में यह सुसुप्ता अवस्था में रहते है। इसका उदाहरण फ्रांस के तीसरे एवं चतुर्थ गणराज्य में रेडीकल पार्टी के रूप में मिलता है।

(2) शाखा दलः- यह ऐसा दलीय प्रकार होता है जिसका उद्देश्य अधिकाधिक संख्या में सदस्य बनाना होता है। इनका पूरा ढ़ाचा होता है। ये निर्वाचन क्षेत्रों में अपनी इकाईयाँ भी स्थापित करते है। ये वर्ष भर सक्रिय रहने वाले दल होते है। इनके विभिन्न कार्यक्रम, गतिविधियाँ निरन्तर चलती रहती है। सामान्यतः यह समाजवादी दलों की तरह निरन्तर सक्रिय रहते है। प्रायः यह देखा जाता है कि समाजवादी दलों के नेता शाखा के सदस्यों के पास आते रहते है। ये उनसे विचारों का आदान प्रदान कर समस्याओं का समाधान खोजने की प्रयास करते है।

(3) प्रकोष्ठः- यह फाँसीवादी तथा साम्यवादी दल का अविष्कार है। इसमें शासक दल की अनेकों इकाईयों देश भर में फैली होतीहै । सभी प्रकोष्ठों के सदस्यों की स्थिति, भूमिका और महत्व दल के सदस्यों की तुलनामेंअधिक महत्वपूर्ण होती है। प्रकोष्ठ के सम्पूर्ण कार्यक्रमों, योजनाओं एवं नीतियों के संबंध में सम्पूर्ण निर्णय वरिष्ठम लोगों की समिति लेती है।

(4) सैनिक दस्तेः- फाँसीवादी एवं साम्यवादी दल अपने साथ एक सैनिक विभाग भी रखते है।इसका उदाहरण इटली एवं जर्मनी में मिलता है। इटली में जहां ' हलचल दस्ता' वहीं जर्मनी में ' तूफान दस्ते' इसके उदाहरण है। चीन में माओ ने मी लाल रक्षक दस्ता बना रखा था। ये सम्पूर्ण सैनिक नहीं थे परन्तु इन्हें प्रशिक्षण दिया जाता था। इनकी सैनिकों से अलग वेशभूषा निर्धारित होती थी। ये संगठन के सर्वोच्च के अधीन कार्य करते थे।

इसके अतिरिक्त राजनीतिक दलों की सदस्यता की प्रकृति को देखते हुए डूवर्जर ने न केवल प्रजातान्त्रिक तथा सर्वाधिकारवादी दलों के बीच अंतर किया है। इस आधार पर उसने दो प्रकार बताये हैः-

(1) संवर्ग युक्त दलः- यह विशिष्ट जनों का समूह होता है। यह चयन के सिद्धान्त के आधार पर ढांचे का निर्माण करते है। ये विशिष्ट लोग चुनाव के लिये कार्यक्रम बनाने, योजना बनाने, चुनाव हेतु प्रत्याशियों के चयन तथा दल के लिये धन के एकत्रीकरण का सम्पूर्ण कार्य करते है। किसी भी व्यक्ति का सम्मान चुनाव लड़ने की उसकी क्षमता तथा पार्टी

कोष में अधिकाधिक चंदा देने से निर्धारि होता है। इनका महत्व दल में बहुत अधिक होता है। ये लोग ही चुनाव हेतु योजना बनाने में सहयोग प्रदान करतेहै ।

(2) जनदलः- समय गुजरने के साथ मतदाता की संख्या में अत्याधिक वृद्धि हुई है। इस वृद्धि ने राजनीतिक दलों को जनदल में परिवर्तित होने में सहायता ही है। संवर्ग दल से अलग जनदल संविधानवाद में विश्वास करते हुए चुनाव में उतरते है। यह अधिकधिक लोगों से सम्पर्क करने तथा उनके सलाह एंव परामर्श से काम करने का प्रयास करता है। इस व्यवस्था में सदस्यमा खुली रहती है। प्रत्येक व्यक्ति जो उनके सिद्धान्तों में विश्वास करता है। वह इनका सदस्य बन सकता है।

इसके अतिरिक्त जन्म एवं विकास के आधार पर डूवर्जर ने राजनीतिक दलों को दो भागों में बांटा हैः-

(1) भीतर से उपजे दलः- यह विचार पाश्चात्य लोकतान्त्रिक व्यवस्था से प्रभावित है। इसमें मताधिकार का विस्तार, संसदीय प्रजातंत्र के क्रमिक संस्थानीकरण ने अनेक जागरूक नागरिकों को छोटे-छोटे संघ बनाने पर उत्साहित किया। इसी प्रकार विधायी सदनों के भीतर अपने हितों की रक्षा तथा उनके सवर्धन के लिये समूहों का जन्म हुआ। प्रजातन्त्र के विकास के साथ इन समूहों ने अपने नियम, चंदे, नीतियों, कार्यक्रमों आदि का विवरण रखने के रूप में अपनी कार्यविधि में सुधार किया। इन दलों का जन्म विधायकों की गतिविधियों के कारण हुआ है।

(2) बाहर से उपजे दल:- बाहर से उपजे दल वे है जो किसी क्रान्तिकारी लक्ष्य को प्राप्त करने तथा किसी निश्चित हित की रक्षा के लिये बने है। रूस एवं चीन के साम्यवादी दल इसका उदाहरण है। जिन्नाह के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने भी राज्य विरोधी नीति अपनाकार नये राज्य पाकिस्तान का गठन कराने में सफलता पाई। इस प्रकार के दल का उदय विधायिका के बाहर होता है। और साम्यवादी दल के लिये गंभीर चुनौती रखता है।

## 9.9 दल प्रणाली के प्रकार

आज दुनिया के लगभव सभी देशों में दलों का अस्तित्व है। वह चाहे अधिनायकतन्त्र हो या उदारवादी लोकतन्त्र या समाजवादी राज्य सभी में राजनीतिक दलों का अस्तित्व है। अन्तर केवल एक बात का है कुछ देशों में दल केवल दिखावा है और कुछ देशों में वास्तविक रूप से राजनीतिक व्यवस्था में अपनी भूमिका अदा कर रहे हैं। मुख्य रूप से तीन प्रकार की दलीय व्यवस्था दिखायी पड़ती हैः-

1.एकदलीय व्यवस्थाः- एकदलीय व्यवस्था का अर्थ है कि शासन में केवल एक दल की उपस्थिति। यह ऐसा शासन होता है जिसमें किसी अन्य दल को स्वीकार नहीं किया जाता। दूसरे शब्दों में कहें तो यह एक तरह का अधिनायकवाद है क्योंकि आमजनता के पास अपने मताधिकार के लिये विकल्प ही नहीं है। ये मुख्य रूप से वामपंथी के शासन वाले राज्यों, तानाशाहों के यहाँ दिखायी पड़ता है। यह व्यवस्था लोकतन्त्र के लिये हितकर नहीं है।

2.द्विदलीय व्यवस्था:- जब किसी देश में दो मुख्य दल होते हैं तो उसे द्विदलीय व्यवस्था कहते है। यहाँ पर दो से अधिक दल होने पर प्रतिबन्ध नहीं होता परन्तु जनता का विश्वास न पाने के वजह से वह पनप ही नहीं पाते। उदाहरण के लिये अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी तथा डेमोक्रेटिक पार्टी, इंग्लैण्ड में अनुदार दल तथा श्रमिक दल आदि।

3.बहुदलीय व्यवस्थाः- बहुदलीय व्यवस्था का अर्थ है दो से अधिक दलों का अस्तित्व। यूरोप में इटली, फ्रांस में बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है। भारत में भी बहुदलीय व्यवस्था पाई जाती है। बहुदलीय व्यवस्था वाले देशों में राजनीतिक अधिकार का विस्तार देते हुए सभी व्यक्तियों को यह स्वतन्त्रता दी जाती है कि वे राजनीतिक दल बना सकते हैं। यही कारण है कि उन देशों में दलों की संख्या आवश्यकता से अधिक है। दुनिया के अनेक देश बहुदलीय व्यवस्था के कारण प्रभावित हो रहे हैं। अनेक दल राजनीतिक परिपक्वता के अभाव में मतविभाजन करवाते हैं और चुनाव में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता। स्पष्ट बहुमत के अभाव में अस्थिर सरकारें आती हैं। बार-बार चुनाव होते हैं। फ्रांस में यही कारण था कि पांचवां गणतन्त्र के संविधान में नयी व्यवस्था अपनायी गयी। यह नयी व्यवस्था अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक का मिश्रण है। भारत में भी 90 के दशक में अस्थायी सरकारों ने नयी बहस को जन्म दे दिया था कि क्यों न यहां पर अध्यक्षात्मक शासन को स्वीकार कर लिया जाये? जहाँ पर द्विदलीय व्यवस्था है वहां पर ऐसा संकट उत्पन्न नहीं हुआ। यही कारण है कि लास्की, लावेल, ब्राइस, फाइनर जैसे अनेक विद्वानों ने लोकतन्त्र में द्विदलीय व्यवस्था को श्रेष्ठ माना है।

**अभ्यास के प्रश्नः-**

(1) निर्बल एवं अस्थिर शासन व्यवस्था किस शासन प्रणाली की विशेषता है-

(अ) द्विदलीय व्यवस्था (ब) बहुदलीय (स) एकदलीय (द) कोई नहीं

(2) किसको लोकतन्त्र का प्राण कहा जाता है-

(अ) दबाव समूह (ब) हित समूह (स) राजनीतिक दल (द)सभी

(3) निम्न में से कौन दल विहीन लोकतन्त्र के समर्थक थेः-

(अ) गाँधी (ब) नेहरू (स) विनोवा भावे (द) जयप्रकाश

(4) निम्न में से कौन राजनीतिक दल का कार्य है-

(अ) राजनीतिक शिक्षा (ब) शासन एवं जनता के बीच कड़ी (स) लोकमत का निर्माण

(द) सभी

(5) निम्नमेंसे किसने '' दलों को प्रजातन्त्रीय यंत्र के संचालन में तेल के समान बताया-

(अ) वर्क (ब) सारटोरी (स) हूबर (द) कोई नहीं

(6)''कुछ लोगों के हितों के लिये बहुतों का पागलपन है।'' यह कथन है-

(अ) वर्क (ब) मिचेल्स (स) मोस्का (द) एलक्जेडर पोप

## 9.10 सारांश

राजनीतिक दल लोकतन्त्र के लिये अनिवार्य माने जाते है। इनके अभाव में लोकतन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कुछ विद्वानों इसे लोकतन्त्र के लिये प्राणवायु के समान मानते है। लोकतन्त्र का उदय सर्वप्रथम इंग्लैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था में हुआ। आज दुनिया के सभी लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक दलों का अस्तित्व है।

राजनीतिक दल कुद सिद्धान्तों पर एकमत लोगों का समूह है जिनका उद्देश्य संवैधानिक तरीके से सत्ता को प्राप्त कर अपने नीतियों एवं कार्यक्रमों को लागू करना होता है। ये संवैधानिक साधनों में विश्वास करते है, निश्चित सिद्धान्तों पर एकजुट होते है।, सत्ता प्राप्ति इनका लक्ष्य होता है। राजनीतिक दल मुख्य रूप से सत्ता प्राप्ति के लिये सदैव क्रियाशील रहते है। जब वे सत्ता से दूर रहते है तब वे उसको पाने जनमत को अपने पक्ष में करने के लिये विभिन्न प्रकार के उपक्रम जैसे रैली, प्रचार,भाषण आदि का सहारा लेते है। आधुनिक समयमेंइस कार्य हेतु सोशल मीडिया का महत्व बहुत बढ़ गया है। सत्ता प्राप्त होने के बाद वे अपनी नीतियों, कार्यक्रमों को लागू करते है तथा सत्ता को अपने पास रखने के लिये अपने प्रचार अभियान को निरन्तर चलाते रहते है। वे जनता को राजनीतिक रूप से जागरूक बनाते है। वह उनके मतदान व्यवहार को प्रभावित करने का प्रयास करते है। वह जनता के समक्ष विकल्प बनकर प्रस्तुत होते है। दूसरे शब्दों से कहे तो राजनीतिक दलों के बिना लोकतन्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विभिन्न विद्वानों जैसे एलन वाल, सारटोरी, डूर्वजर, मिचेल्स, आदि ने राजनीतिक दलों का विभिन्न आधारों पर वर्गीकरण किया है। आधुनिक समय में राजनीतिक दलों का स्वरुप कार्यविधि , ढांचा में भी बदलाव दिखायी पड़ रहा है। इन सबके बावजूद राजनीतिक दलों के अभाव में लोकतन्त्र की कल्पना भी संभव नहीं है।

## 9.11 शब्दावली

अल्पतन्त्र का लौह नियमः- मिचेल्स ने यह सिद्धान्त दिया। इसका अर्थ है कि शासन सदैव योग्य लोगों के हाथ में रहता है। जो अल्पसंख्या में होता है।''

बहुदलीय व्यवस्थाः- किसी भी शासन व्यवस्था में दो से अधिक दलों का अस्तित्व बहुदलीय व्यवस्था कहलाता है।

कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्थाः- दो से अधिक दलों के अस्तित्व के बावजूद वास्तविकता में सत्ता के लिये दो दलों में संघर्ष रहता है। ऐसी व्यवस्था को कार्यवाहक बहुदलीय व्यवस्था कहते है।

सर्वसत्तावादी दलः- यह वह व्यवस्था है जिसमें एक दल ही प्रभावी रहता है। उसके पास सभी प्रकार की सत्ता समाहित रहती है।

## 9.12 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

1. ब, 2. स, 3. द, 4. द, 5. स, 6. द

## 9.13 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

2.गेना सी0बी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें

3.सिंघल एस0सी0, तुलनात्मक राजनीति

4.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

5.जैन आर0सी0, तुलनात्मक राजनीति

**9.14 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्रीः-**

1.गाबा ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा
2.सोडारों माइकल, कम्परेटिव पॉलिटिक्स
3.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त
4.राय गांधी जी, तुलनात्मक राजनीतिक संस्थायें

**9.16 निबन्धात्मक प्रश्नः-**

1.राजनीतिक दल से क्या समझते है? इनके कार्यों का वर्णन कीजिये।
2.राजनीतिक दलों की परिभाषा दीजिये तथ इसके गुण दोषों का वर्णन कीजिये।
3.राजनीतिक दलों का अर्थ समझाइये तथा इनकी विशेषतायें बताइये।
4.राजनीतिक दल पर एक निबन्ध लिखिये।
5.राजनीतिक दल से क्या समझते है? दलीय व्यवस्था के प्रकार पर प्रकाश डालिये।

# इकाई 10 निर्वाचन प्रणालियाँ

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उदेश्य

10.3 बहुल मतदान

10.4 निर्वाचन प्रणाली: अर्थ एवं प्रकार

10.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली: गुण

10.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली: दोष

10.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली: गुण

10.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली: दोष

10.9 मतदान की प्रमुख प्रणालियाँ

10.10 निर्वाचन प्रणाली और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व

10.11 आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली: गुण और दोष

10.12 सारांश

10.13 शब्दावली

10.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.15 निबंधात्मक प्रश्न

10.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

## 10.1 प्रस्तावना

लोकतन्त्र की वास्तविक सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर किस प्रकार और किन शर्तों पर प्राप्त होता है। निर्वाचन प्रणाली इसी प्रक्रिया को व्यवस्थित करती है। सरल शब्दों में, निर्वाचन प्रणाली वह व्यवस्था है जिसके माध्यम से जनता अपने मताधिकार का प्रयोग करके शासन के लिए प्रतिनिधियों का चयन करती है और शासन व्यवस्था को वैधता प्रदान करती है। यदि चुनाव निष्पक्ष, स्वतंत्र और पारदर्शी न हों, तो लोकतन्त्र केवल नाम मात्र का रह जाता है।

शिक्षार्थियों के लिए यह समझना आवश्यक है कि लोकतन्त्र केवल चुनाव करवा देने से मजबूत नहीं होता, बल्कि चुनाव की प्रकृति, प्रक्रिया और परिणाम लोकतान्त्रिक गुणवत्ता को निर्धारित करते हैं। एक प्रभावी निर्वाचन प्रणाली न केवल जनइच्छा को अभिव्यक्त करती है, बल्कि नागरिकों और शासन के बीच विश्वास का सेतु भी बनाती है।

इतिहास पर दृष्टि डालें तो प्राचीन काल में छोटे-छोटे नगर–राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र संभव था, जहाँ सीमित संख्या में नागरिक स्वयं निर्णय प्रक्रिया में भाग लेते थे। किंतु जैसे-जैसे राज्यों का आकार बढ़ा, जनसंख्या में वृद्धि हुई और शासन की समस्याएँ जटिल होती गईं, प्रत्यक्ष लोकतन्त्र व्यवहारिक नहीं रह सका। ऐसी स्थिति में प्रतिनिधि लोकतन्त्र का उदय हुआ, जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का चयन करती है और वही प्रतिनिधि शासन का संचालन करते हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का आधार निर्वाचन प्रणाली ही है।

आधुनिक लोकतन्त्र में जनता प्रतिदिन शासन के निर्णय नहीं लेती, बल्कि निर्धारित समय पर होने वाले चुनावों के माध्यम से अपने प्रतिनिधि चुनती है। चुनाव किस प्रकार आयोजित किए जाएंगे, मतदान गुप्त होगा या प्रकट, विजेता का निर्धारण बहुमत से होगा या आनुपातिक आधार पर, तथा समाज के अल्पसंख्यक वर्गों को किस प्रकार प्रतिनिधित्व मिलेगा—इन सभी महत्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान निर्वाचन प्रणाली के अंतर्गत किया जाता है।

इस इकाई का उद्देश्य शिक्षार्थियों को निर्वाचन प्रणाली की अवधारणा, उसके विभिन्न रूपों तथा लोकतान्त्रिक शासन में उसकी भूमिका को स्पष्ट रूप से समझाना है, ताकि वे न केवल परीक्षा की दृष्टि से, बल्कि एक जागरूक नागरिक के रूप में भी इस विषय का सम्यक् बोध प्राप्त कर सकें।

## 10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त शिक्षार्थी—

- निर्वाचन प्रणाली के अर्थ, स्वरूप एवं महत्व को समझ सकेंगे।
- प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणालियों में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे।

- विभिन्न मतदान प्रणालियों का विश्लेषण कर सकेंगे।
- बहुमत आधारित एवं आनुपातिक निर्वाचन प्रणालियों की समीक्षा कर सकेंगे।
- निर्वाचन प्रणाली की भूमिका को अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के संदर्भ में समझ सकेंगे।
- आदर्श निर्वाचन प्रणाली की आवश्यक शर्तों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 10.3 बहुल मतदान

बहुल मतदान को भारयुक्त मतदान या भेदपूर्ण मतदान भी कहा जाता है। इस निर्वाचन प्रणाली के अंतर्गत सभी नागरिकों को समान मत का अधिकार नहीं दिया जाता, बल्कि कुछ व्यक्तियों को उनकी सामाजिक स्थिति, शिक्षा, संपत्ति अथवा बौद्धिक क्षमता के आधार पर एक से अधिक मत प्रदान किए जाते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली 'एक व्यक्ति–एक मत–एक मूल्य' के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के स्पष्ट रूप से विपरीत मानी जाती है।

स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षार्थियों के लिए यह समझना आवश्यक है कि बहुल मतदान का उद्भव लोकतन्त्र के प्रारम्भिक चरण से जुड़ा हुआ है, जब सार्वभौम वयस्क मताधिकार को लेकर व्यापक सहमति नहीं बन पाई थी। उस समय यह माना जाता था कि सभी नागरिक राजनीतिक निर्णय लेने में समान रूप से सक्षम नहीं होते। इसी धारणा के आधार पर कुछ वर्गों को अधिक प्रभावशाली मताधिकार प्रदान किया गया।

ऐतिहासिक दृष्टि से बेल्जियम में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में बहुल मतदान प्रणाली अपनाई गई थी, जहाँ संपत्ति, शिक्षा और कर-भुगतान के आधार पर नागरिकों को अतिरिक्त मत दिए जाते थे। इसी प्रकार औपनिवेशिक भारत में भी सीमित और भेदभावपूर्ण मताधिकार व्यवस्था लागू थी, जिसमें व्यापक जनसमुदाय को राजनीतिक प्रक्रिया से बाहर रखा गया। इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि बहुल मतदान मूलतः अभिजनवादी सोच पर आधारित प्रणाली थी।

राजनीतिक विचारक जे.एस. मिल ने बहुल मतदान का समर्थन करते हुए तर्क दिया कि शिक्षित और बौद्धिक रूप से विकसित व्यक्तियों के मत को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, क्योंकि वे सार्वजनिक हित को बेहतर ढंग से समझने और विवेकपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम होते हैं। मिल का मानना था कि यह व्यवस्था लोकतन्त्र की गुणवत्ता को बढ़ा सकती है। हालांकि, उनके इस विचार की व्यापक आलोचना हुई, क्योंकि यह समानता और राजनीतिक न्याय के सिद्धान्त को कमजोर करता है।

आधुनिक लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में बहुल मतदान को असमान, अलोकतान्त्रिक और सामाजिक विभाजन को बढ़ावा देने वाली प्रणाली माना जाता है। लोकतन्त्र के विकास के साथ यह स्वीकार किया गया कि राजनीतिक समानता ही लोकतान्त्रिक शासन की आत्मा है। परिणामस्वरूप, अधिकांश आधुनिक राज्यों ने बहुल मतदान को

त्याग कर सार्वभौम वयस्क मताधिकार को अपनाया, जिससे प्रत्येक नागरिक को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो सके।

## 10.4 निर्वाचन प्रणाली: अर्थ एवं प्रकार

निर्वाचन का सामान्य अर्थ जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों का चयन मात्र नहीं है, बल्कि यह उस प्रक्रिया का नाम है जिसके माध्यम से जनसत्ता को संस्थागत रूप प्रदान किया जाता है। निर्वाचन प्रणाली लोकतन्त्र को व्यवहारिक रूप देती है और नागरिकों की राजनीतिक सहभागिता को सुनिश्चित करती है। स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षार्थियों के लिए यह समझना आवश्यक है कि निर्वाचन प्रणाली केवल एक तकनीकी व्यवस्था नहीं, बल्कि गहन राजनीतिक, सामाजिक और वैचारिक आधारों पर निर्मित संस्था है।

राजनीतिक विचारक गिलक्रिस्ट के अनुसार, निर्वाचन प्रणाली वह विधि है जिसके माध्यम से मतों को सीटों में परिवर्तित किया जाता है। वहीं, एलेक्जेंडर हीयर्ड का मत है कि निर्वाचन प्रणाली यह निर्धारित करती है कि विभिन्न राजनीतिक विचार और सामाजिक हित किस अनुपात में विधायिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त करेंगे। इस प्रकार निर्वाचन प्रणाली सत्ता के वितरण का मूल साधन है।

लॉस्की ने निर्वाचन को लोकतन्त्र की आत्मा कहा है और उनके अनुसार निर्वाचन प्रणाली इस आत्मा को कार्यशील बनाती है। दूसरी ओर, जे.एस. मिल निर्वाचन प्रणाली को राजनीतिक शिक्षा का माध्यम मानते हैं, जिसके द्वारा नागरिकों में सार्वजनिक हित की समझ विकसित होती है। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि निर्वाचन प्रणाली लोकतान्त्रिक संस्कृति के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

सामान्यतः निर्वाचन प्रणालियों को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है—

1. **प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली**
2. **अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली**

### 10.4.1 प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली : अर्थ

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली वह व्यवस्था है जिसमें मतदाता स्वयं अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। इस प्रणाली में जनता और प्रतिनिधि के बीच सीधा संबंध स्थापित होता है। रूसो के अनुसार, लोकतन्त्र का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष सहभागिता में निहित है, यद्यपि आधुनिक राज्यों में इसका पूर्ण रूप से प्रयोग संभव नहीं है। प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को इसी विचार का व्यवहारिक रूप माना जाता है।

गेटेल के अनुसार, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली नागरिकों में राजनीतिक चेतना का विकास करती है और शासन को जनइच्छा के अधिक निकट लाती है। भारत, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशों में विधायिका के निचले सदन के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली अपनाई गई है।

### 10.4.2 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली : अर्थ

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में जनता सीधे प्रतिनिधियों का चयन नहीं करती, बल्कि एक निर्वाचक मंडल का चुनाव करती है, जो आगे चलकर प्रतिनिधियों या पदाधिकारियों का चयन करता है। इस प्रणाली में जनभागीदारी का स्तर अपेक्षाकृत कम होता है, किंतु निर्णय प्रक्रिया अधिक सुविचारित मानी जाती है।

हर्मन फाइनर के अनुसार, अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली उन परिस्थितियों में उपयोगी होती है जहाँ व्यापक जनता से विवेकपूर्ण निर्णय की अपेक्षा करना कठिन हो। मुनरो का मत है कि यह प्रणाली योग्यता और अनुभव को प्राथमिकता देने में सहायक होती है। भारत में राष्ट्रपति और राज्यसभा सदस्यों का निर्वाचन इसी प्रणाली के अंतर्गत किया जाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणालियाँ लोकतन्त्र की भिन्न आवश्यकताओं को पूरा करती हैं। किसी भी देश द्वारा अपनाई गई निर्वाचन प्रणाली उसकी सामाजिक संरचना, राजनीतिक चेतना और लोकतान्त्रिक परंपराओं को प्रतिबिंबित करती है।

## 10.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली: गुण

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली वह व्यवस्था है जिसमें मतदाता स्वयं अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यों में यह प्रणाली सर्वाधिक प्रचलित है, क्योंकि इसे जनसत्ता की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति माना जाता है। स्नातकोत्तर स्तर के शिक्षार्थियों के लिए यह समझना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली केवल एक चुनावी तकनीक नहीं, बल्कि लोकतान्त्रिक संस्कृति को सुदृढ़ करने का माध्यम है। इसके प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

**(1) राजनीतिक जागरूकता का विकास**

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली नागरिकों में राजनीतिक चेतना और जागरूकता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। चूँकि मतदाता स्वयं अपने प्रतिनिधि का चयन करता है, इसलिए वह राजनीतिक दलों, उम्मीदवारों, नीतियों और कार्यक्रमों के प्रति रुचि लेता है। गेटेल के अनुसार, प्रत्यक्ष निर्वाचन नागरिकों को सार्वजनिक मामलों में सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करता है। चुनावी प्रक्रिया के माध्यम से नागरिक अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति अधिक सजग होते हैं, जिससे लोकतान्त्रिक समाज का निर्माण होता है।

**(2) मतदाता और प्रतिनिधि के बीच प्रत्यक्ष संबंध**

इस प्रणाली का एक प्रमुख गुण यह है कि मतदाता और निर्वाचित प्रतिनिधि के बीच सीधा और जीवंत संबंध स्थापित होता है। प्रतिनिधि यह जानता है कि उसकी सफलता सीधे मतदाताओं के समर्थन पर निर्भर करती है। लॉस्की के अनुसार, जब प्रतिनिधि और मतदाता के बीच प्रत्यक्ष संपर्क होता है, तो प्रतिनिधि जनहित की उपेक्षा नहीं कर सकता। यह संबंध प्रतिनिधि को अपने निर्वाचन क्षेत्र की समस्याओं के प्रति संवेदनशील बनाता है।

### (3) प्रतिनिधियों में उत्तरदायित्व की भावना

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में प्रतिनिधियों के भीतर उत्तरदायित्व और जवाबदेही की भावना विकसित होती है। चूँकि प्रतिनिधि को पुनः निर्वाचित होने के लिए जनता के पास जाना पड़ता है, इसलिए वह अपने कार्यों और नीतिगत निर्णयों के प्रति उत्तरदायी रहता है। फाइनर के अनुसार, प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली प्रतिनिधियों को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाए रखने का प्रभावी साधन है। यह व्यवस्था लोकतान्त्रिक नियंत्रण को सुदृढ़ करती है।

### (4) लोकतान्त्रिक मूल्यों के अनुरूप व्यवस्था

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली समानता, स्वतंत्रता और जनसत्ता जैसे लोकतान्त्रिक मूल्यों के अधिक निकट मानी जाती है। इसमें प्रत्येक मतदाता को समान मत का अधिकार प्राप्त होता है, जो 'एक व्यक्ति–एक मत' के सिद्धान्त को साकार करता है। रूसो के जनसत्ता सिद्धान्त के अनुसार, जब नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेते हैं, तो लोकतन्त्र अधिक सशक्त होता है। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली लोकतान्त्रिक आदर्शों के अनुकूल मानी जाती है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली लोकतान्त्रिक सहभागिता, उत्तरदायित्व और जनप्रतिनिधित्व को सुदृढ़ करती है, यद्यपि इसके साथ कुछ व्यावहारिक सीमाएँ भी जुड़ी हुई हैं, जिनकी चर्चा अगले खंड में की जाएगी।

## 10.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली : दोष

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को लोकतंत्र की आधारशिला माना जाता है क्योंकि इसमें मतदाता स्वयं अपने प्रतिनिधि का चयन करते हैं। लेकिन व्यवहार में यह प्रणाली कई गंभीर समस्याओं से भी ग्रस्त है। ये दोष केवल प्रशासनिक नहीं हैं, बल्कि लोकतांत्रिक मूल्यों और जनप्रतिनिधित्व की गुणवत्ता पर भी प्रभाव डालते हैं। आइए इन्हें एक–एक करके समझते हैं।

**1. अत्यधिक चुनावी व्यय**

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का सबसे बड़ा और सर्वमान्य दोष अत्यधिक चुनावी खर्च है। उम्मीदवारों को बड़े निर्वाचन क्षेत्रों में प्रचार के लिए विशाल संसाधनों की आवश्यकता होती है—जैसे रैलियाँ, प्रचार सामग्री, मीडिया कवरेज और जनसंपर्क अभियान।
हालाँकि चुनाव आयोग व्यय की सीमा निर्धारित करता है, फिर भी व्यवहार में वास्तविक खर्च अक्सर घोषित सीमा से कहीं अधिक होता है। इसका परिणाम यह होता है कि साधनहीन, ईमानदार और योग्य व्यक्ति चुनावी प्रतिस्पर्धा से बाहर हो जाते हैं, जबकि आर्थिक रूप से सशक्त वर्ग को अनुचित लाभ मिलता है। इस प्रकार लोकतंत्र धीरे–धीरे "प्रतिस्पर्धात्मक समानता" के सिद्धांत से दूर चला जाता है।

**2. धनबल और बाहुबल का प्रभाव**

प्रत्यक्ष चुनावों में धनबल और बाहुबल की भूमिका एक गंभीर चिंता का विषय है। धनबल का उपयोग मतदाताओं को प्रभावित करने, प्रचार को नियंत्रित करने और राजनीतिक समर्थन खरीदने के लिए किया जाता है। वहीं बाहुबल का प्रयोग भय, दबाव और हिंसा के माध्यम से चुनावी प्रक्रिया को प्रभावित करने में किया जाता है। इसका सीधा प्रभाव यह पड़ता है कि मतदाता स्वतंत्र और निर्भीक होकर मतदान नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप लोकतांत्रिक चुनाव जन–इच्छा की वास्तविक अभिव्यक्ति न होकर शक्ति और संसाधनों के खेल में बदल जाता है।

**3. अयोग्य व्यक्तियों के निर्वाचित होने की संभावना**

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में मतदाता अक्सर उम्मीदवार की योग्यता, नीति–दृष्टि या प्रशासनिक क्षमता के बजाय जाति, धर्म, क्षेत्रीय पहचान, लोकप्रियता या भावनात्मक अपील के आधार पर मतदान करते हैं। इससे ऐसे व्यक्ति भी निर्वाचित हो जाते हैं जिनमें विधायी या प्रशासनिक कार्यों के लिए आवश्यक बौद्धिक क्षमता, अनुभव या नैतिकता का अभाव होता है। दीर्घकाल में यह संसद और विधानसभाओं की कार्यक्षमता को प्रभावित करता है तथा नीतिनिर्माण की गुणवत्ता में गिरावट लाता है।

**4. भ्रामक प्रचार के कारण जनमत का विकृतिकरण**

प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में चुनावी सफलता के लिए प्रचार अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रक्रिया में कई बार तथ्यात्मक मुद्दों की बजाय भ्रामक नारों, अधूरी सूचनाओं और भावनात्मक उत्तेजना का सहारा लिया जाता है। मीडिया, सोशल मीडिया और चुनावी भाषणों के माध्यम से जनमत को इस तरह मोड़ा जाता है कि मतदाता वास्तविक मुद्दों—जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और शासन—पर विचार ही नहीं कर पाता। इसका परिणाम यह होता है कि लोकतंत्र विवेकपूर्ण निर्णय की जगह भावनात्मक प्रतिक्रिया पर आधारित हो जाता है।

## 10.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के गुण

### 1. योग्य और अनुभवी व्यक्तियों के चयन की संभावना

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का सबसे प्रमुख गुण यह है कि इसमें अपेक्षाकृत योग्य, अनुभवी और बौद्धिक रूप से सक्षम व्यक्तियों के निर्वाचित होने की संभावना अधिक होती है।
चूँकि चुनाव करने वाले निर्वाचक स्वयं जनप्रतिनिधि या विशेष योग्यता वाले सदस्य होते हैं, इसलिए वे भावनात्मक या तात्कालिक मुद्दों के बजाय उम्मीदवार की योग्यता, अनुभव और संस्थागत समझ को महत्व देते हैं। इससे विधायी निकायों में विशेषज्ञता और संतुलन बना रहता है।

### 2. चुनावी व्यय में कमी

इस प्रणाली में चुनाव सीमित निर्वाचकों के बीच होता है, जिससे बड़े पैमाने पर प्रचार, रैलियों और जनसंपर्क अभियानों की आवश्यकता नहीं होती।
परिणामस्वरूप चुनावी व्यय अपेक्षाकृत कम होता है और धनबल की भूमिका सीमित हो जाती है। यह लोकतंत्र को आर्थिक असमानताओं से उत्पन्न विकृतियों से बचाने में सहायक सिद्ध होता है।

### 3. प्रशासनिक सरलता और समय की बचत

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में मतदाताओं की संख्या कम होने के कारण चुनाव प्रक्रिया अपेक्षाकृत सरल, सुव्यवस्थित और समय–साध्य होती है।
विशेषकर उच्च संवैधानिक पदों के लिए यह प्रणाली प्रशासनिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त मानी जाती है, क्योंकि इससे बार–बार और बड़े पैमाने पर चुनाव कराने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

### 4. राष्ट्रीय और संस्थागत दृष्टिकोण को प्रोत्साहन

अप्रत्यक्ष प्रणाली स्थानीय या क्षेत्रीय भावनाओं के प्रभाव को सीमित करती है। निर्वाचक प्रायः व्यापक राष्ट्रीय हित, संवैधानिक मर्यादाओं और संस्थागत संतुलन को ध्यान में रखकर मतदान करते हैं।
इससे संघीय व्यवस्था में विभिन्न इकाइयों के बीच संतुलन बना रहता है और उच्च सदनों या पदों की गरिमा सुरक्षित रहती है।

## 10.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के दोष

### 1. जनसहभागिता का सीमित स्वरूप

इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें आम नागरिक की प्रत्यक्ष भागीदारी नहीं होती। मतदाता केवल प्रारंभिक स्तर पर ही अपनी भूमिका निभा पाता है, जबकि वास्तविक निर्णय निर्वाचकों के हाथ में चला जाता है। इससे लोकतंत्र की मूल भावना—जन–सत्ता—कुछ हद तक कमजोर होती है और जनता स्वयं को निर्णय–प्रक्रिया से दूर महसूस करती है।

### 2. राजनीतिक सौदेबाज़ी की संभावना

अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली में सीमित निर्वाचकों के कारण राजनीतिक सौदेबाज़ी, गुटबंदी और दलगत समझौते की संभावना बढ़ जाती है।
अक्सर चुनाव विचारधारा या योग्यता के बजाय राजनीतिक लाभ, दल–अनुशासन या शक्ति संतुलन के आधार पर तय होते हैं, जिससे नैतिकता और पारदर्शिता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है।

### 3. जनमत से दूरी और प्रतिनिधित्व का संकट

अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि कभी–कभी जनभावनाओं और सामाजिक यथार्थ से कटे हुए दिखाई देते हैं। चूँकि वे सीधे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते, इसलिए उनके निर्णयों में जनहित की अपेक्षा संस्थागत या राजनीतिक हित अधिक प्रभावी हो सकते हैं। इससे प्रतिनिधित्व की लोकतांत्रिक गुणवत्ता प्रभावित होती है।

### 4. अभिजात्य प्रवृत्ति को बढ़ावा

यह प्रणाली सीमित और विशेष वर्ग के हाथों में निर्णय–सत्ता केंद्रित कर देती है। परिणामस्वरूप शासन–प्रणाली में अभिजात्य प्रवृत्ति विकसित होने लगती है, जहाँ आम नागरिक की भूमिका केवल औपचारिक रह जाती है। दीर्घकाल में यह प्रवृत्ति लोकतंत्र को सहभागी से अधिक नियंत्रित स्वरूप प्रदान कर सकती है।

## 10.9 मतदान की प्रमुख प्रणालियाँ

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में मतदान वह माध्यम है जिसके द्वारा जनता अपनी राजनीतिक इच्छा को व्यक्त करती है। मतदान की प्रणाली केवल तकनीकी व्यवस्था नहीं होती, बल्कि यह प्रतिनिधित्व की प्रकृति, सत्ता की वैधता और लोकतंत्र की गुणवत्ता को भी प्रभावित करती है। विश्व के विभिन्न लोकतांत्रिक देशों में मतदान की भिन्न–भिन्न प्रणालियाँ प्रचलित हैं, जिनका चयन वहाँ की राजनीतिक परंपराओं और आवश्यकताओं के अनुरूप किया गया है। व्यापक रूप से लोकतंत्र में मतदान की दो प्रमुख प्रणालियाँ मानी जाती हैं—प्रकट मतदान और गुप्त मतदान। इनके अंतर्गत विभिन्न निर्वाचन प्रणालियाँ विकसित हुई हैं।

### 10.9.1 बहुमत आधारित निर्वाचन प्रणाली

बहुमत आधारित निर्वाचन प्रणाली लोकतांत्रिक देशों में सबसे अधिक प्रचलित प्रणाली है। इस प्रणाली में वह उम्मीदवार निर्वाचित घोषित किया जाता है जिसे अन्य सभी उम्मीदवारों की तुलना में सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं, भले ही उसे कुल डाले गए मतों का पूर्ण बहुमत न मिला हो।

इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य सरलता और शीघ्र निर्णय सुनिश्चित करना है। भारत में लोकसभा और विधानसभा चुनाव इसी प्रणाली के अंतर्गत कराए जाते हैं। इसे प्रायः *फर्स्ट पास्ट द पोस्ट प्रणाली* भी कहा जाता है।

इस प्रणाली का एक प्रमुख लाभ यह है कि चुनाव परिणाम स्पष्ट और त्वरित होते हैं, जिससे राजनीतिक स्थिरता बनी रहती है। मतदाताओं के लिए यह प्रणाली समझने में भी सरल होती है। हालाँकि इसकी आलोचना भी की जाती है क्योंकि कई बार ऐसा उम्मीदवार निर्वाचित हो जाता है जिसे कुल मतों का अल्प प्रतिशत ही प्राप्त हुआ होता है। इस स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि क्या निर्वाचित प्रतिनिधि वास्तव में बहुसंख्यक जनमत का प्रतिनिधित्व करता है। इसके बावजूद प्रशासनिक सरलता और स्थायित्व के कारण यह प्रणाली व्यापक रूप से अपनाई गई है।

### 10.9.2 द्वितीय मतदान प्रणाली

द्वितीय मतदान प्रणाली उस सिद्धांत पर आधारित है कि निर्वाचित प्रतिनिधि को स्पष्ट और वास्तविक बहुमत का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। इस प्रणाली में विजयी होने के लिए उम्मीदवार को कुल वैध मतों का 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

यदि प्रथम चरण के मतदान में कोई भी उम्मीदवार आवश्यक बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता, तो शीर्ष दो उम्मीदवारों के बीच पुनः मतदान कराया जाता है। इसे ही द्वितीय मतदान कहा जाता है।

इस प्रणाली का प्रमुख उदाहरण फ्रांस है, जहाँ राष्ट्रपति चुनाव इसी पद्धति से संपन्न होते हैं। इसका मुख्य लाभ यह है कि निर्वाचित व्यक्ति को व्यापक जनसमर्थन प्राप्त होता है, जिससे उसकी वैधता और राजनीतिक स्वीकार्यता बढ़ जाती है।

हालाँकि इस प्रणाली की एक व्यावहारिक सीमा यह है कि इसमें चुनाव प्रक्रिया लंबी और खर्चीली हो जाती है। साथ ही बार–बार मतदान से मतदाताओं की रुचि और सहभागिता में कमी भी देखी जा सकती है।

### 10.9.3 वैकल्पिक मतदान प्रणाली

वैकल्पिक मतदान प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और लोकतांत्रिक मानी जाती है। इस प्रणाली में मतदाता केवल एक उम्मीदवार को मत देने के बजाय अपनी प्राथमिकताओं के क्रम में मत देता है—पहली प्राथमिकता, दूसरी प्राथमिकता, तीसरी प्राथमिकता आदि।

मतगणना की प्रक्रिया में पहले प्राथमिकता वाले मतों की गणना की जाती है। यदि कोई उम्मीदवार आवश्यक बहुमत प्राप्त नहीं कर पाता, तो सबसे कम मत पाने वाले उम्मीदवार को बाहर कर दिया जाता है और उसके मत दूसरी प्राथमिकता के आधार पर अन्य उम्मीदवारों में स्थानांतरित कर दिए जाते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक किसी एक उम्मीदवार को आवश्यक बहुमत प्राप्त न हो जाए।

भारत में राष्ट्रपति के निर्वाचन में इसी प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। यह प्रणाली मतदाता की वास्तविक पसंद को अधिक प्रभावी ढंग से व्यक्त करती है और रणनीतिक मतदान की संभावना को कम करती है।

हालाँकि इसकी जटिल मतगणना प्रक्रिया और सामान्य मतदाता के लिए सीमित समझ इसे व्यापक चुनावों के लिए कम व्यावहारिक बनाती है। फिर भी उच्च संवैधानिक पदों के लिए यह प्रणाली अधिक उपयुक्त मानी जाती है।

## 10.10 निर्वाचन प्रणाली और अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व

लोकतांत्रिक व्यवस्था में निर्वाचन प्रणाली का प्रभाव केवल सत्ता के गठन तक सीमित नहीं होता, बल्कि यह समाज के विभिन्न वर्गों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व को भी निर्धारित करती है। साधारण बहुमत आधारित निर्वाचन प्रणाली में प्रायः वही वर्ग सफल होता है जो संख्यात्मक रूप से बहुसंख्यक या राजनीतिक रूप से संगठित होता है। इस स्थिति में भाषाई, धार्मिक, जातीय या वैचारिक अल्पसंख्यकों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता।

इसी असंतुलन को दूर करने और लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाने के उद्देश्य से विभिन्न वैकल्पिक निर्वाचन प्रणालियाँ विकसित की गईं, जिनमें आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का विशेष महत्व है।

### 10.10.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व आधारित निर्वाचन प्रणाली

आनुपातिक प्रतिनिधित्व आधारित निर्वाचन प्रणाली का मूल उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि किसी राजनीतिक दल या समूह को प्राप्त मतों का अनुपात, उसे मिलने वाली सीटों में भी यथासंभव परिलक्षित हो। इस प्रणाली में मतों की बर्बादी कम होती है और अल्पसंख्यक मत भी प्रतिनिधित्व में परिवर्तित हो पाते हैं।

इस प्रणाली के अंतर्गत मुख्य रूप से दो रूप प्रचलित हैं—

**(1) एकल हस्तान्तरणीय मत प्रणाली**

इस प्रणाली में मतदाता अपनी प्राथमिकता के क्रम में उम्मीदवारों को मत देता है। यदि किसी उम्मीदवार को आवश्यक मत प्राप्त नहीं होते, तो उसके मत अन्य उम्मीदवारों को स्थानांतरित कर दिए जाते हैं। इस व्यवस्था से मतदाता की पसंद अधिक सटीक रूप से व्यक्त होती है और अल्पसंख्यक समूहों को भी प्रतिनिधित्व मिलने की संभावना बढ़ जाती है। भारत में राज्यसभा और राष्ट्रपति के निर्वाचन में इसी प्रणाली का प्रयोग होता है।

**(2) सूची प्रणाली**

सूची प्रणाली में मतदाता किसी व्यक्तिगत उम्मीदवार के बजाय किसी राजनीतिक दल को मत देता है। दलों को प्राप्त मतों के अनुपात में सीटें आवंटित की जाती हैं। इस प्रणाली का लाभ यह है कि छोटे दलों और अल्पसंख्यक विचारधाराओं को भी विधायिका में स्थान मिल पाता है। हालाँकि इसमें मतदाता और प्रतिनिधि के बीच सीधा संबंध अपेक्षाकृत कमजोर हो जाता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली लोकतंत्र को अधिक समावेशी और प्रतिनिधिक बनाती है। यद्यपि इसकी जटिलता और प्रशासनिक चुनौतियाँ हैं, फिर भी अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर यह साधारण बहुमत प्रणाली की तुलना में अधिक न्यायसंगत समाधान प्रस्तुत करती है।

## 10.11 आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली: गुण और दोष

आनुपातिक निर्वाचन प्रणाली का मूल उद्देश्य यह है कि मतदाताओं द्वारा दिए गए मतों और राजनीतिक दलों या समूहों को प्राप्त होने वाली सीटों के बीच यथासंभव संतुलन स्थापित किया जा सके। यह प्रणाली लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाने का प्रयास करती है, किंतु इसके साथ कुछ व्यावहारिक सीमाएँ भी जुड़ी हुई हैं।

इस प्रणाली का सबसे प्रमुख गुण यह है कि इसमें **अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व** मिलने की संभावना बढ़ जाती है। वे वर्ग जो साधारण बहुमत प्रणाली में प्रायः हाशिये पर रह जाते हैं, इस व्यवस्था में अपनी राजनीतिक उपस्थिति दर्ज करा पाते हैं। इसके साथ ही **प्रत्येक मत का महत्व** बना रहता है, क्योंकि मतों की बर्बादी न्यूनतम होती है और लगभग हर मत प्रतिनिधित्व में परिवर्तित हो सकता है।

आनुपातिक प्रणाली **राजनीतिक चेतना के विकास** में भी सहायक होती है। मतदाता केवल बड़े दलों तक सीमित न रहकर वैकल्पिक विचारधाराओं और नीतियों पर विचार करने लगता है। इससे लोकतंत्र अधिक सक्रिय और विचारप्रधान बनता है। साथ ही विभिन्न सामाजिक समूहों और राजनीतिक मतों की भागीदारी के कारण **संतुलित और सहभागी शासन** की संभावना उत्पन्न होती है।

लेकिन इन गुणों के साथ–साथ इस प्रणाली के कुछ स्पष्ट दोष भी हैं। सबसे पहले, इसकी **निर्वाचन प्रक्रिया अपेक्षाकृत जटिल** होती है, जिसे सामान्य मतदाता के लिए समझना कठिन हो सकता है। मतगणना की तकनीकी प्रक्रिया भी समयसाध्य होती है।

दूसरा महत्वपूर्ण दोष यह है कि इस प्रणाली में अक्सर किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता, जिससे **स्थायी सरकार के निर्माण में कठिनाई** उत्पन्न होती है। गठबंधन सरकारों की मजबूरी राजनीतिक अस्थिरता को जन्म दे सकती है। इसके अतिरिक्त **दलगत विखंडन की संभावना** बढ़ जाती है, क्योंकि छोटे–छोटे दल भी प्रतिनिधित्व प्राप्त कर लेते हैं।

अंततः, सूची प्रणाली जैसे रूपों में **मतदाता और प्रतिनिधि के बीच दूरी** बढ़ जाती है, क्योंकि मतदाता व्यक्ति के बजाय दल को मत देता है। इससे प्रतिनिधि की प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व भावना कमजोर पड़ सकती है।

**अभ्यास प्रश्न**

1. साधारण बहुमत आधारित निर्वाचन प्रणाली को किस नाम से भी जाना जाता है?
(A) वैकल्पिक मतदान प्रणाली
(B) आनुपातिक प्रणाली
(C) फर्स्ट पास्ट द पोस्ट प्रणाली
(D) द्वितीय मतदान प्रणाली

2. भारत में राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रणाली से होता है?
(A) साधारण बहुमत प्रणाली
(B) द्वितीय मतदान प्रणाली

(C) सूची प्रणाली
(D) वैकल्पिक मतदान प्रणाली

3. द्वितीय मतदान प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य क्या है?
(A) चुनावी व्यय कम करना
(B) पूर्ण बहुमत सुनिश्चित करना
(C) अल्पसंख्यकों को आरक्षण देना
(D) मतदाता संख्या घटाना

4. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का मुख्य उद्देश्य है—
(A) सरकार की स्थिरता
(B) दलगत अनुशासन
(C) मतों और सीटों में समानुपात
(D) प्रत्यक्ष जनसंपर्क

5. सूची प्रणाली में मतदाता किसे मत देता है?
(A) व्यक्तिगत उम्मीदवार को
(B) चुनाव आयोग को
(C) राजनीतिक दल को
(D) निर्वाचन क्षेत्र को

## 10.12 सारांश

निर्वाचन प्रणाली लोकतांत्रिक शासन की वह आधारभूत संरचना है जिसके माध्यम से जनमत को राजनीतिक प्रतिनिधित्व में रूपांतरित किया जाता है। किसी भी लोकतंत्र की प्रकृति, स्थिरता और समावेशिता इस बात पर निर्भर करती है कि वहाँ कौन-सी निर्वाचन प्रणाली अपनाई गई है।

इस इकाई में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली, मतदान की प्रमुख प्रणालियाँ तथा बहुमत आधारित, द्वितीय मतदान और वैकल्पिक मतदान जैसी व्यवस्थाओं का अध्ययन किया गया है। साधारण बहुमत प्रणाली जहाँ प्रशासनिक सरलता और स्थिरता प्रदान करती है, वहीं यह अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की समस्या भी उत्पन्न करती है।

इसी कमी को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व आधारित निर्वाचन प्रणाली का विकास हुआ, जिसका उद्देश्य मतों और सीटों के बीच संतुलन स्थापित करना है। एकल हस्तान्तरणीय मत प्रणाली और सूची प्रणाली इसके प्रमुख

रूप हैं। इस इकाई में यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक निर्वाचन प्रणाली के अपने गुण और दोष होते हैं, और आधुनिक लोकतंत्रों में परिस्थितियों के अनुसार इनका संतुलित प्रयोग किया जाता है।

## 10.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.C, 2.D, 3.B, 4.C, 5.C

## 10.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. निर्वाचन प्रणाली का अर्थ स्पष्ट करते हुए इसकी विभिन्न प्रकार की प्रणालियों का विवेचन कीजिए।

2. साधारण बहुमत आधारित निर्वाचन प्रणाली के गुण एवं दोषों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

3. आनुपातिक प्रतिनिधित्व आधारित निर्वाचन प्रणाली अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व को किस प्रकार सुनिश्चित करती है? स्पष्ट कीजिए।

4. मतदान की विभिन्न प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

5. भारत में अपनाई गई निर्वाचन प्रणालियों की उपयुक्तता का मूल्यांकन कीजिए।

## 10.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


- फाडके, य. दि., भारतीय शासन एवं राजनीति, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
- जोशी, आर. सी., भारतीय संविधान और राजनीतिक प्रणाली, किटाब महल, इलाहाबाद।
- वर्मा, एस. पी., भारतीय राजनीतिक प्रणाली, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
- हेमराज, राजनीति विज्ञान के सिद्धांत, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
- लस्की, हैरोल्ड जे., Grammar of Politics, जॉर्ज एलेन एंड अनविन, लंदन।
- हे, वुड्स और मैकलीन, Comparative Politics, पालग्रेव मैकमिलन, लंदन।
- निर्वाचन आयोग, भारत, भारत में निर्वाचन प्रणाली, भारत सरकार प्रकाशन, नई दिल्ली।
- ऑस्टिन, ग्रैनविल, The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

- कोठारी, रैजनी, Politics in India, ओरिएंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली।
- दाहल, रॉबर्ट ए., Democracy and Its Critics, येल यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हेवन।

# इकाई 11 दबाव समूह और राजनीति

इकाई की संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 अर्थ एवं परिभाषा
11.4 दबाव समूह के तत्व
11.5 दबाव समूह के उदय के कारण
11.6 राजनीतिक दल एवं दबाव समूह में अंतर
11.7 दबाव समूह के साधन
11.8 दबाव समूह के दोष
11.9 दबाव समूह के प्रकार / वर्गीकरण
11.10 दबाव समूह एवं लाबींइंग मेंअन्तर
11.11 दबाव समूह एवं हित समूह मेंअन्तर
11.12 दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारक
11.13 दबाव समूह की सक्रियता के विभिन्न स्थान
11.14 दबाव समूह एवं लोकतन्त्र
11.15 विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं (सरकारों) मेंदबाव समूह
11.15.1 ऑग्ल- अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूह
11.15.2 यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह
11.15.3 इटली एवं फ्रांस में दबाव समूह
11.15.4 सर्वाधिकारवादी राजनीतिक व्यवस्थामेंदबाव समूह
11.15.5 विकासशील राष्ट्रों में दबाव समूह
11.16 सारांश
11.17 शब्दावली
11.18 अभ्यास के प्रश्न
11.19 संदर्भ ग्रन्थ सूची
11.20 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर
11.21 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.22 निबन्धात्मक प्रश्न

## 11.1 प्रस्तावना

लोकतन्त्र मेंराजनीतिक दल व्यक्ति एवं सरकार के बीच सम्पर्क सूत्र के रूप मेंकार्य करते हैं। समय गुजरने के साथ बड़े राज्यों मेंबड़ी आकांक्षाओं को पूरा करने मेंराजनीतिक दल असमर्थ होने लगे। इसी समय जन आकांक्षा के ज्वार, लोगों की बढ़ती आवश्यकताओं ने लोगों को अपने हितों के आधार पर संगठित किया। कतिपय यही कारण है बीसवीं शताब्दी मेंअनेक हित समूह अथवा दबाव समूह उभरे।

आधुनिक राजनीति शास्त्र मेंदबाव समूह की भूमिका महत्वपूर्ण हैं ये बहुलवाद से मान्यता प्राप्त समूह है। जिन्हें लास्की, कोल, फिंगिस, मेटलैण्ड जैसे विद्वानों ने स्वीकार किया। आधुनिक समय मेंइनका महत्व इतना बढ़ गया है कि फाइनर इन्हें 'अज्ञात साम्राज्य' कहता है वहीं मैंकिन इन्हें 'अदृश्य सरकार तथा सेलिन इसे 'अनौपचारिक सरकार' कहता है आमण्ड पावेल के शब्दों में- ''हर समाज तथा राजनीतिक पद्धति मेंमाँगें प्रस्तुत करने की अपनी रीतियाँ होती हैं तथा हितों के निर्णयकों के समक्ष उन्हें विभिन्न रूपों मेंप्रस्तुत किया जाता है। लोकतान्त्रिक प्रक्रिया मेंयह कार्य हित समूह द्वारा किया जाता है। यही कारण है हित समूह का अध्ययन बेहद महत्वपूर्ण है।''

## 11.2 उद्देश्य

- दबाव समूह का अर्थ एवं उत्पत्ति समझाना।
- आधुनिक समय में दबाव समूह के विभिन्न प्रकारों से अवगत कराना।
- विभिन्न शासन व्यवस्थाओं में दबाव समूह की भूमिका को समझना।
- दबाव समूहों के साधन एवं गुणदोष को समझना।

## 11.3 अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य शब्दों मेंकहें तो दबाव समूह विशेष हितों के साथ जुड़े एसे संगठन होते हैं जो अपने समूह के हितों की रक्षा के लिए नीति निर्माताओं पर दबाव बनाते हैं।

वी0ओ0की0 के शब्दोंमें- ''दबाव समूह वे निजी संघ हैं जो सार्वजनिक नीतियों का प्रभावित करने के लिये बनते हैं।''

ओटी गार्ड के शब्दों में- ''दबाव समूह ऐसे व्यक्तियों का औपचारिक संगठन है जिनके एक या अनेक सामान्य उद्देश्य अथवा स्वार्थ होते हैं जो घटनाओं के क्रम को विशेष रूप से सार्वजनिक नीति के निर्माण और शासन को अपने हितों की रक्षा एवं वृद्धि के लिये प्रभावित करते हैं।''

माइनर वीनर के शब्दों में- ''हित अथवा दबाव समूह से हमारा अभिप्राय किसी ऐसे ऐच्छिक रूप से संगठित समूह से होता है जो सरकार के संगठन से बाहर रहकर अधिकारियों की नियुक्ति, सरकार की नीति, इसका प्रशासन तथा इसके निर्णय को प्रभावित करने का यत्न करता हो।''

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि दबाव समूह एक से हित वाले लोगों का एक समूह है जो अपने समूह हित की पूर्ति के लिए सरकार पर दबाव बनाते हैं। ये समूह औद्योगिक, व्यापारिक, व्यावसायिक, श्रमिक समूह विधि निर्माण के कार्य को अपने हित मेंप्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये समूह अपने सदस्यों के हितों की पूर्ति के लिये सभी माध्यमों से दबाव बनाते है।

## 11.4 दबाव समूह के प्रमुख तत्व

1.सीमित उद्देश्य:- जहाँ राजनीतिक दल का उद्देश्य सार्वजनिक हित की पूर्ति करना होता है वहाँ दबाव समूह का उद्देश्य सीमित होता है। यह केवल अपने समूह के हित को पूरा करने का प्रयास करते हैं। ये अपने समूह हित को पूरा करने के बाद या तो निष्क्रिय हो जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं। इनका स्वार्थ केवल अपने समूह हित तक होता है। ये सार्वजनिक हित, राष्ट्रहित के विषय मेंसक्रिय नहीं रहते।

2.सीमित सदस्यताः- दबाव समूह का जन्म ही वर्ग विशेष, समूह विशेष की हित पूर्ति के लिये होता है। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित रहती है। ये एक विशेष वर्ग के लोग होते हैं। इसमेंसम्पूर्ण देश के सभी समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं होता। यही कारण है कि इनकी सदस्यता सीमित होती है। उदाहरण के लिये वे छात्र संघ, किसान सभा, मजदूर संघ के रूप मेंदिखायी पड़ते हैं।

3.संवैधानिक-असंवैधानिक साधनों का प्रयोगः- दबाव समूह अपने उद्देश्य को पाना चाहते हैं। वे सरकार की विधि निर्माण की प्रक्रिया पर दबाव बना कर अपने उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं। इसके लिये कई बार वे संवैधानिक तथा असंवैधानिक माध्यमों का भी प्रयोग करते है। वे विधि निर्माताओं को धमकी देना, प्रलोभन देना, धन देना, डराना आदि सभी उपक्रम कर अपने लिये कार्य करवाना चाहते हैं। वह सभी प्रकार के हथकन्डे अपना कर अपने हितों की पूर्ति करते हैं।

4.शासन एवं विधान मण्डल की सदस्यता नहीं- ये विधि निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित कर अपने हित मेंविधि निर्माण चाहते हैं। इस विधि निर्माण प्रक्रिया मेंखुद को शामिल नहीं करना चाहते अर्थात् स्वयं चुनाव लड़कर विधानमण्डल मेंपहुँचकर स्वयं कानून बनाने मेंशामिल नहीं होना चाहते। शासन के उत्तरदायित्व से बाहर रहकर केवल दबाव द्वारा अपने हित साधना चाहते हैं।

5.अनिश्चित कार्यकालः- दबाव समूह का जन्म ही निश्चित उद्देश्य एवं हित साधन के लिए होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के साथ ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है और वो भी समाप्त हो जाते हैं। कुछ दबाव समूह जिनके उद्देश्य पूरे नहीं हुए हैं वे बने रहते है। इन दबाव समूहों की सक्रियता मेंअन्तर आता रहता है।

6.सभी शासन व्यवस्थाआं मेंउपलब्धताः- दबाव समूह आधुनिक समय मेंसभी शासन व्यवस्थाओं मेंउपलब्ध दिखायी पड़ते हैं। लोकतन्त्र हो या तानाशाही, पूँजीवादी राज्य हो या समाजवादी राज्य सभी मेंदबाव समूह सक्रिय दिखायी पड़ते हैं। राबर्ट सी0 वोन के शब्दों में- ‘‘दबाव समूह सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं मेंसर्वाधिकारवादी राज्यों मेंभी पाये जाते हैं।

## 11.5 दबाव समूह के उदय के कारण

दबाव समूह के उदय के प्रमुख कारण निम्न हैः-

1.राज्य के कार्यों में वृद्धि होने से शासन के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक कार्य भी राज्य करने लगा। अपने वर्ग अथवा समूह हित के लिये कानून बनवाने लोग संगठित हुए।

2.औद्योगित क्रान्ति ने मजदूर वर्ग को जन्म दिया। वे अपने हितों के लिये संगठित प्रयास करने लगे।

3.विभिन्न वर्गों की बढ़ती आकांक्षा एवं जागरूकता उन्हें समान हित के आधार पर संगठित करता है।

4.प्रादेशिक निर्वाचन प्रणाली या प्रादेशिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त जो क्षेत्र के आधार पर प्रतिनिधित्व देता है जिसमेंआर्थिक समूह, सामाजिक, सांस्कृतिक समूहों का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। अतः वे अपने हितों के लिये संगठित होते हैं।

5.बढ़ती महत्वाकांक्षा भी अनेक दबाव समूहों का निर्माण करवाती है। राजनीति मेंसक्रिय होने की लालसा मेंकुछ लोग दबाव समूह का गठन करते हैं।

## 11.6 राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंअन्तर

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह किसी भी शासन व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ राजनीतिक दलों के बिना लोकतन्त्र का संचालन नहीं हो सकता वहीं दबाव समूह के बिना भी हम किसी शासन व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। जहाँ राजनीतिक दल सीधे सरकार, नीति निर्माताओं को नियन्त्रित कर राष्ट्रीय नीतियों का निर्माण करवाते हैं। वहीं दबाव समूह भी समाज एवं शासन के साथ जुड़कर अपने पक्ष मेंनीतियों का निर्माण करवाते हैं। ये सरकार के साथ समाज एवं व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इसके बावजूद दबाव समूह एवं राजनीतिक दल में कुछ अन्तर है।

मौरिस डूवर्जर ने इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा है - ''राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करके उसका उपयोग करना चाहते हैं- वे ऐसा महापौरों, सीनेट सदस्यों को निर्वाचित करवाकर तथा मन्त्रियों एवं राज्य के अध्यक्ष को चुनवाकर करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह राजनीतिक सत्ता को प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग करने मेंहाथ नहीं बँटाते हैं। वे सत्ता से दूर रहते हुये, सत्ता को प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। वे उस पर दबाव डालने का प्रयास करते हैं जिसके पास सत्ता होती है। वे अपने सदस्यों को सत्तारूढ़ कराने का प्रयास नहीं करते हैं। हैरल्ड ब्रूस ने दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए लिखा है- ''दबाव समूह प्रायः राजनीतिक दलों से स्वतन्त्र होते हुए भी उनके सहयोगी होते हैं। परिस्थिति के अनुसार उनके सम्बन्ध बदलते रहते हैं। दबाव समूह सामान्यतः गैर राजनीतिक होते हैं। वे दलीय सीमाओं को लांघकर मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।'' दबाव समूह एवं राजनीतिक दलों मेंप्रमुख अन्तर निम्न है-

राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंअन्तर

| | |
|---|---|
| 1.राजनीतिक दल राजनीतिक | 1.दबाव समूह गैर-राजनीतिक |
| 2.राजनीतिक दल का व्यापक क्षेत्र | 2.दबाव समूह का क्षेत्र छोटा |
| 3.राजनीतिक दल का कार्यक्रम व्यापक | 3.दबाव समूह का कार्यक्रम संकीर्ण |
| 4.राजनीतिक दल संगठित | 4.दबाव समूह असंगठित भी |

5.संवैधानिक साधनों मेंविश्वास 5.येन-केन प्रकारेण हित सिद्धि

6.राजनीतिक दल सदैव क्रियाशील 6.उद्देश्य सिद्धि तक ही क्रियाशील

7.राजनीतिक दल विधानमण्डल के भीतर और बाहर कार्य करते हैं।7.दबाव समूह केवल विधानमण्डल के बाहर ही कार्य करते हैं।

8.राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्त कर लक्ष्य सिद्धि 8.दबाव समूह विधि निर्माता व प्रशासक को प्रभावित करने तक सीमित।

1.राजनीतिक दल राजनीतिक होते हैं जबकि दबाव समूह गैर राजनीतिकः- राजनीतिक दलों के उद्देश्य राजनीतिक होते हैं। वे चुनाव में भाग लेते हैं, चुनाव मेंप्रत्याशी खड़े करते हैं। वे चुनाव जीतकर शासन सत्ता को प्राप्त करना चाहते हैं। दबाव समूह सत्ता प्राप्त करना नहीं चाहते, वे विधायकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों को प्रभावित कर दबाव बना नीति को अपने हित मेंबनवाने का प्रयास करते हैं, जिससे उस वर्ग विशेष (हित समूह) के हितों की पूर्ति हो सके। इस प्रकार कहा जा सकता है कि राजनीतिक दल औपचारिक राजनीतिक संगठन होते हैं जबकि दबाव समूह बाहर रहकर अपना हित साधना चाहते हैं।

2.राजनीतिक दलों का क्षेत्र व्यापक होता है जबकि दबाव समूह का छोटाः- राजनीतिक दलों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। इसमेंअनेक वर्गों, समूहों के लोग शामिल होते हैं। इनकी सदस्य संख्या लाखों में होती है। इसके विपरीत दबाव समूह की सदस्य संख्या सीमित तथा क्षेत्र भी सीमित होता है। कोई भी व्यक्ति एक साथ कितने भी समूहों का सदस्य बन सकता है। परन्तु एक बार मेंएक ही दल का सदस्य बन सकता है। अतः क्षेत्र के आधार पर राजनीतिक दलों एवं दबाव समूह मेंअन्तर है।

3.राजनीतिक दलों के कार्यक्रम व्यापक जबकि दबाव समूह के संकीर्णः- राजनीतिक दल वर्ष भर संपूर्ण देश में विभिन्न कार्यक्रम चलाते हैं। वहीं दबाव समूह कार्यक्रम एवं हित की दृष्टि से संकीर्ण तो होते ही है साथ ही अत्याधिक सजातीय होते हैं। उनके मुद्दे व हित समान होते हैं। अतः विचारों की संगति ही एकता एवं सजातीयता प्रदान करती है। दूसरी तरह दलों के कार्यक्रम व्यापक क्षेत्र एवं मुद्दे भी व्यापक होते हैं। यही कारण है कि उनमेंसजातीयता नहीं हो पाती है। अतः दलों एवं दबाव समूहों में कार्यक्रमों की व्यापकता के आधार पर अन्तर है।

4.राजनीतिक दल संगठित जबकि दबाव समूह असंगठित होते हैः- राजनीतिक दल सम्पूर्ण देश या प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सत्ता प्राप्ति करना चाहते हैं। अतः वे पूर्णतः संगठित होते हैं। इनकी सदस्यता लाखों में होती है। इनका संगठन पद-सोपान पर आधारित होता है। प्रत्येक पदाधिकारी की जिम्मेदारी तय होती है। दल के अंदर लोकतान्त्रिक चुनाव होते हैं। इसके ठीक विपरीत दबाव समूह असंगठित होते हैं। वे केवल त्वरित लाभ एवं हित के लिये नीति निर्माताओं एवं क्रियान्वन करने वालों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

5.राजनीतिक दल संवैधानिक साधनों मेंविश्वास करते हैं जबकि दबाव समूह नहीं- राजनीतिक दलों एवं दबाव समूह में यह प्रमुख अन्तर है। जहां दबाव समूह 'एनन केन प्रकारेण' अथवा किसी तरह अपने हित साधना चाहता है। वह हितपूर्ति के लिये अनैतिक, अमर्यादित आचरण जैसे - घूस, शराब आदि का प्रयोग करने से भी संकोच नहीं करते। वहीं राजनीतिक दल संवैधानिक साधनों के द्वारा सर्वोच्च लक्ष्य (सत्ता) को प्राप्त करना चाहते हैं। वे हिंसा अथवा अन्य

असंवैधानिक साधनों में विश्वास नहीं करते। यही कारण है कि राजनीतिक दल लोकमत को पक्ष में कर, मत के द्वारा सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

6.राजनीतिक दल सदैव क्रियाशील जबकि दबाव समूह सदैव नहीं- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंयह प्रमुख अन्तर है कि जहाँ राजनीतिक दल का क्षेत्र बड़ा होता है, लक्ष्य बड़ा होता है अतः उनके प्रयास भी बड़े होते हैं। वे वर्ष भर क्रियाशील रहते हैं। वे वर्ष भर कार्यक्रम, आन्दोलन चलाते हैं। दूसरी तरफ दबाव समूह सदैव क्रियाशील नहीं रहते। वे केवल अपने हितों के लिये सक्रिय होते हैं और हित पूरा होते ही निष्क्रिय हो जाते हैं।

7.राजनीतिक दल विधानमण्डल के अन्दर एवं बाहर कार्य करते हैं जबकि दबाव समूह केवल बाहरः- राजनीतिक दल एवं दबाव समूह मेंप्रमुख अन्तर है जहाँराजनीतिक दल जनता के समर्थन से सत्ता पाते हैं। इसलिये वह इस समर्थन को खोना नहीं चाहते। अतः वह सदैव जनता के बीच रहते हैं। तथा विधायिक मेंभी अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। इसके विपरीत दबाव समूह केवल अपने समूह मेंसक्रिय रहते हैं। वह विधानमण्डल के सदस्य नहीं होते अतः वहाँ सक्रिय नहीं रहते।

8.सत्ता प्राप्ति को लेकर अन्तरः- राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्त कर अपने नीतियों एवं सिद्धान्तों को लागू करना होता है जबकि दबाव समूह केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति चाहता है। वह सत्ता प्राप्ति की लालसा नहीं रखते। वे केवल विधि निर्माताओं, प्रशासकों को प्रभावित कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहते हैं।

## 11.7 दबाव समूह के साधन

आज दुनिया में लाखों दबाव समूह कार्यरत हैं। इन सबके अपने उद्देश्य एवं कार्य करने के तरीके हैं। दबाव समूहों के साधन एवं उद्देश्य को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं रहा। कुछ विद्वान इनमेंअनेक बुराइयाँ देखते हैं तथा लोकतन्त्र भ्रष्ट करने का माध्यम मानते हैं। वहीं कुछ विद्वान इसे उचित, राजनीतिक प्रक्रिया मेंउत्पन्न रिक्तता को भरने का माध्यम मानते हैं। अमेरिका एवं ब्रिटेन के दबाव समूहों के प्रति नजरिये में भी अन्तर है। जहां अमेरिका मेंइन्हें भ्रष्टता के गढ़ के रूप मेंदेखा जाता है वहीं ब्रिटेन मेंयह लोकतन्त्र के अनिवार्य हिस्से के रूप में देखे जाते हैं। दबाव समूहों द्वारा अपनाये जाने वाले साधन इस प्रकार हैः-

1.संगठन निर्माणः- दुनिया मेंदो तरह से दबाव समूह दिखायी पड़ते हैं। कुछ दबाव समूह पूर्णतः संगठित होते हैं। वे पद-सोपान के क्रम मेंसंगठित होते हैं। संगठन बनाकर वह कार्य विभाजन करते हैं। इस तरह वह उत्तरदायित्व तय कर अपने उद्देश्यों को पाने का प्रयास करते हैं।

2.लॉबीगः- दबाव समूह का यह महत्वपूर्ण साधन है। अमेरिका मेंयह तरीका बहुत लोकप्रिय है। इसमेंदबाव समूह के सदस्य विधायिका के सदस्यों से सीधा सम्बन्ध स्थापित कर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। इस उद्देश्य के लिये विभिन्न दबाव समूह विशेष प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। दबाव समूह द्वारा प्रयोग मेंलाया जा रहा प्रमुख साधन है।

3.सामूहिक प्रचारः- दबाव समूह द्वारा प्रयोग मेंलाया जा रहा प्रमुख साधन है। वे अपने उद्देश्यों, लक्ष्यों का व्यापक प्रचार करते हैं। वे विभिन्न प्रचार एजेन्सियों के माध्यम से अपनी मांगों को सरकार तक पहुँचाते हैं तथा उन्हें वैध ठहराते हैं। वह सुनियोजित ढंग से व्यापक प्रचार अभियान द्वारा सरकार पर दबाव बनाते हैं। इस साधन के द्वारा सरकार पर दबाव बना अपना हित साधते हैं।

4.पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशनः- दबाव समूह का यह महत्वपूण साधन है। इसमेंविभिन्न समूह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन करते हैं। वे अपनी मांगों का ने केवल प्रचार करते हैं।वरनउनको सही भी ठहराते हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं का प्रसार दूर-दूर तक किया जाता है। इससे दबाव समूह को अनेक लाभ होते हैं। उन्हे प्रचार, वैधता तो मिलती ही साथ ही अनेक नये सदस्य भी मिलते हैं जिससे इनकी सदस्य संख्या बढ़ती है।

5.जनता से सीधा सम्पर्कः- दबाव समूह के पास सदस्यता होती है। वे सीधे जनता से सम्पर्क करते हैं। वे जनता के बीच जाकर अपनी मांगों का प्रचार करते हैं। साथ ही जनसमर्थन भी प्राप्त करते हैं। उनको प्राप्त जनसमर्थन ही उनकी शक्ति होती है जिसके माध्यम से भी वह अपनी मांगों को पूरा करवाते हैं।

6.विभिन्न राजनीतिक दलों से परोक्ष सम्बन्धः- दबाव समूह सीधे चुनाव मेंभाग नहीं लेते परन्तु वे विभिन्न राजनीतिक दलों से परोक्ष सम्बन्ध रखते हैं। वे उनको विधायिका मेंपहुँचाकर अपने हितों की पूर्ति करवाते हैं। भारत मेंभारतीय राष्ट्रीय श्रमिक संघ ;प्ण्छण्ज्ण्ब्ण्द्ध साम्यवादी दलों से, भारतीय मजदूर संघ ( भारतीय जनता पार्टी से) जुड़ा हुआ है।

7.हड़ताल एवं धरना प्रदर्शनः- दबाव समूह सरकार एवं विधि निर्माताओं पर दबाव बनाने के लिये हड़ताल एवं धरना प्रदर्शन करते हैं। इसके माध्यम से वह अपने साथ उपस्थित संख्या बल प्रदर्शित करते हैं। वे इसके माध्यम से सरकार का ध्यान आकृष्ट कर अपनी मांगों को मनवाने का प्रयास करते हैं।

8.न्यायालय की मददः- दबाव समूह अपने हितों के लिये विभिन्न उपक्रम करते हैं। परन्तु कई बार ऐसे कानून बन जाते हैं जो उनके हितों के विरूद्ध होता है तो वे न्यायालय की शरण मेंजाकर उन कानूनों का रद्द कराना चाहते हैं। वे कई बार किसी मामले मेंसार्वजनिक हित का हवाला देकर सर्वोच्च न्यायालय मेंजनहित याचिका ;च्ण्ण्स्ण्द्ध भी करते है। अतः दबाव समूह न्यायालय की मदद भी लेते हैं।

9.गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन - वे समय-समय पर जनजागरण बढ़ाने के लिये गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन करते हैं। ये गोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन सूचनाओं के आदान-प्रदान का महत्वपूर्ण माध्यम है। वे इन सभाओं, गोष्ठियों में विधि निर्माताओं एवं प्रभावशाली व्यक्तियों का आमन्त्रित करते हैं। वे इससे अपने मतों को प्रभावशाली ढंग से रखते हैं तथा अधिकारियों एवं नीतिनिर्माताओं को अपने पक्ष मेंकरने का प्रयास करते हैं।

10.अनैतिक माध्यमों का उपयोगः- दबाव समूहों कई बार हित साधने के लिये अनैतिक साधनों का भी प्रयोग करते हैं। वे असंवैधानिक साधनों का प्रयोग करने से भी नहीं हिचकते हैं। कतिपय यही कारण है कि दबाव समूह की व्यापक आलोचना भी की जाती है।

## 11.8 दबाव समूहों के दोष

दबाव समूहों के सम्बन्ध मेंविद्वानों मेंएकमत का अभाव है। जहाँ ब्रिटेन के विचारक इसे लोकतन्त्र के लिये स्वाभविक मानते हैं। वहीं अमेरिका की व्यवस्था से जुड़े विद्वान इसे लोकतन्त्र मेंअनैतिकता एवं अमर्यादित आचरण के वाहक मानते हैं। वे कहते है कि दबाव समूह लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता को बढ़ा रहे हैं। दबाव समूहों के प्रमुख दोष निम्न हैः-

1.संकीर्ण विचारों पर आधारित

2.अप्रजातान्त्रिक एवं अनुत्तरदायी समूह

3.व्यापक सामाजिक हित, राष्ट्रहित की उपेक्षा
4.भ्रष्ट एवं अमर्यादित आचरण के प्रणेता
5.वसुधैव कुटुम्बकम अथवा सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के विरूद्ध
6.दलीय अनुशासन के विरूद्ध
7.लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तों की अवहेलना

## 11.9 दबाव समूहों के प्रकार अथवा वर्गीकरण:-

समाज मेंकई तरह के दबाव समूह दिखायी पड़ते हैं। संगठन के आधार पर यह जनवादी समूह तथा परम्परागत या विशिष्ट वर्गीय समूह के रूप मेंदिखते हैं अनेक विद्वानों ने दबाव समूहों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये है। लोकतान्त्रिक देशों मेंयह मुख्य रूप से छोटे, बड़े, स्थाई, अस्थाई कई प्रकार के दबाव समूह पाये जाते हैं। यह वर्गीकरण लक्ष्य, संगठन की प्रकृति, अवधि, कार्य, क्षेत्र आदि के आधार पर किया जाता है।

लक्ष्य के आधार पर यह स्वार्थी एवं परोपकारी तथा संगठन के आधार पर औपचारिक एवं अनौपचारिक तथा कार्य क्षेत्र के आधार पर सीमित एवं वृहद कार्य क्षेत्र वाले दबाव समूह कहा जा सकता है। राजनीति शास्त्र मेंअनेक विद्वानों ने जैसे आमण्ड, हिचनर, जीन ब्लोण्डेल ने अलग-अलग वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। इनमेंसे आमण्ड एवं ब्लोण्डल के वर्गीकरण इस प्रकार है-

आमण्ड का वर्गीकरण:- आमण्ड ने दबाव समूहों को चार भागों मेंबाँटा। उसके वर्गीकरण को अनेक विद्वानों के साथ हिचनर एवं लेवाइन ने स्वीकार किया। आमण्ड ने हित समूह (दबाव समूह) को चार भागों मेंबांटा:-

1.संस्थागत हित समूहः- सेना, पुलिस, प्रशासनिक अधिकारियों के संगठन
2.प्रदर्शनात्मक या उद्दण्ड हित समूहः- हिंसक , सविंधान विरूद्ध कार्य करने वाले
3.साहचर्य हित समूह:-व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ आदि
4.असाहचर्य हित समूहः- ब्राहमण महासभा, क्षत्रिय महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड

जीन ब्लौण्डेल का वर्गीकरणः-

1.सामुदायिक हित समूह

- रूढ़िगत ; Customary Pressure Group - क्षत्रिय महासभा जाट संघ
- संस्थागत ; Institutional Pressure Group. सैनिक कल्याण परिषद, कर्मचारी संघ

2.साहचर्य हित समूह

- संरक्षात्मक -श्रमिक, व्यापारिक संघ
- उत्थानात्मक ; - गौ-रक्षा, नारी कल्याण

उपरोक्त दो वर्गीकरण को देखने के बाद दबाव समूह के निम्न प्रकार बनाये जा सकते हैः-

दबाव समूह के प्रकारः-

1.संस्थानात्मक दबाव समूहः- संस्थानात्मक दबाव समूह वह होते हैं जिनका अपना संगठनात्मक ढांचा होता है जो किसी न किसी संस्था से जुडे होते हैं। ऐसे दबाव समूह मेंमुख्य रूप से सेना, पुलिस नौकरशाही जैसे विभिन्न संस्थान आते हैं। ये विभिन्न संस्थानों मेंकार्य कर रहे लोगों को अपने हित मेंबनाया समूह होता है। इनके सदस्य इनके साथ अन्य समूहों की सदस्यता भी लेते हैं। भारत मेंऐसे दबाव समूह मुख्य रूप से भारतीय पुलिस सेवा संघ, सैनिक कल्याण परिषद, भारतीय प्रशासनिक अधिकारी संघ प्रमुख हैं।

2.समुदायात्मक दबाव समूहः- समुदायात्मक संघ मुख्य रूप से अपने समुदाय विशेष के हितों की पूर्ति के लिये संगठित होते हैं। ये स्वतन्त्र होते हैं। ये किसी अन्य संस्था से जुड़े हो सकते हैं। ये मुख्य रूप से एक साथ एक व्यवसाय करने से बने समूह होते हैं। इनमें मुख्य रूप से व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ आदि आते हैं।

3.असमुदायात्मक दबाव समूहः- इस समूह की मुख्य प्रेरक शक्ति जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, अथवा रक्त समूह होता है। ये स्वतः स्फूर्त समूह होते हैं। प्रायः यह संगठित नहीं होते। ये बेहद प्राचीन समय से अस्तित्व मेंहैं। इस समूह के पीछे अदृश्य रूप से समाज के परम्परागत मूल्य बन्धन का कार्य करते हैं। इसमें मुख्य रूप से क्षत्रिय महासभा, कायस्थ महासभा, सुन्नी वक्फ बोर्ड आदि है।

4.उद्दण्ड या प्रदर्शनकारी दबाव समूहः- यह मुख्य रूप से वह समूह है जो अपनी मांगों को लेकर हिंसक और संविधान विरूद्ध कार्य करने लगते हैं। वे अपनी मांगों को लेकर हड़ताल, धरना प्रदर्शन, अनशन, सार्वजनिक सम्पति को नुकसान पहुंचाना, रोड ब्लाक, आगजनी आदि का सहारा लेते हैं। वे इस अमर्यादित आचरण से शासन पर दबाव बनाने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि दबाव समूहों का स्थान विभिन्न शासन प्रणालियों मेंबेहद मजबूत है। प्रारम्भ मेंइन्हें अनैतिक, आदर्शों के विरूद्ध एवं लोकतन्त्र को नष्ट करने वाला माना गया।

समय के साथ राज्य के क्षेत्र, जनसंख्या एवं कार्य बढ़ने से राजनीतिक दलों की लोगों तक पहुँचने मेंअसमर्थता तथा लोगों की बढ़ती महत्वाकांक्षा एवं जागरूकता ने राजनीतिक रूप से दबाव समूह को जन्म दिया। आज लोकतन्त्र की कल्पना भी उनके बिना नहीं हो सकती। वे सूचनायें एकत्रित एवं प्रसारित करते हैं, सरकारों पर नियन्यत्र रखते हैं, व्यवसायिक प्रतिनिधित्व की कमी को पूरा करते हैं, सरकार एवं जनता के बीच कड़ी का काम करते हैं। वे विधानमण्डल के पीछे विधानमण्डल के समान है। कतिपय यही कारण है कि फाइनर ने उन्हें 'अज्ञात साम्राज्य' कहा।

## 11.10 दबाव समूह एवं लॉबीइंग मेंअंतर

दबाव समूह एवं लॉबी को सामान्यतः एक ही समझा जाता हैं वास्तव मेंदोनों मेंबड़ा अंतर है। दबाव समूह का कार्यक्षेत्र व्यापक होता है तथा अपने लक्ष्य एवं उद्देश्य को प्राप्त करने के उनके माध्यम भी व्यापक होते है। दबाव समूह अपने व्यापक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रचार, पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन राजनीतिक दलों पर दबाव , हड़ताल, प्रदर्शन , न्यायालय की शरण तथा गोष्ठियों आदि का सहारा लेते है। वे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये अनैतिक माध्यमों का प्रयोग करने मेंभी संकोच नहीं करते है। वे अपने उद्देश्य के लिये सरकारी आकड़ों का विश्लेषण कर वह उनका प्रदर्शन कर अपने पक्ष को मजबूत करते है।

इसके विपरीत लाबीइंग का क्षेत्र एवं कार्यविधि दोनों ही दबाव समूह से संकुचित होती है। लांविग के अर्न्तगत केवल विधि निर्माताओं के ऊपर दबाव एवं प्रभाव बनाया जाता है। विधि निर्माताओं को किसी भी प्रकार से प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। वे उन्हें प्रलोभन देने वं अनैतिक माध्यमों का प्रयोग कर अपने पक्ष मेंविधि निर्माण अपने पक्ष मेंकराने मेंविश्वास करते है। वे विधेयकों को अपने पक्ष मेंपास कराने का प्रयास करते है। वे जनमत को बिल्कुल ही महत्व नहीं देते । वे सामान्यतः विधानसभा के लॉबी में सक्रिय रहते है और निजी संपर्कों के द्वारा विधायकों को अपने पक्ष मेंकर कानून अपने लिये बनवाने मेंसफल हो जाते है।

## 11.11 दबाव समूह एवं हित समूह मेंअंतर

सामान्यतः दबाव समूह एवं हित समूह को एक ही समझ लिया जाता है। वास्तव मेंदबाव समूह एवं हित समूह मेंएक बारीक रेखा है। यहाँ पर लाथम का कथन उल्लेखनीय है-'' सभी हित समूह दबाव समूह नहीं होते है, किन्तु परीस्थितिवश वे दबाव समूह की श्रेणी मेंआ जाते है। '' ऐसा माना जाता है कि जब तक हित समूह सक्रिय नहं रहते वे हित समूह रहते है। परन्तु जैसे ही वे हित पूर्ति के लिये सक्रिय हो जाते है वो दबाव समूह मेंपरिवर्तित हो जाते है। इस संबंध मेंपी0 एन0 मसालदान का विश्लेषण बड़ा महत्वपूर्ण है-'' समाज मेंव्यक्तियों के केवल सामान्य हित ही नहीं होते है , अपितु कुछ विशेष हित भी होते है।'' साधारणतया व्यक्ति अपन विशेष व्यवसायिक एवं आर्थिक हित को ज्यादा महत्व देता है। जिन व्यक्तियों के आर्थिक एवं व्यससायिक हित एक से होते है। वे एक हित गुट बन जाते है। कुछ हित गुट मजबूती से संगठित होते है। जब वह संगठित हो अपने विशेष हितों की पूर्ति के लिये सक्रिय हो शासन पर दबाव डालते है। तब वह दबाव समूहमेंपरिवर्तित हो जाते है।''

कार्टर और हर्ज ने दबाव समूह और हित समूह के अन्तर को बरीकी से स्पष्ट किया। उनके अनुसार -'' विभिन्न आर्थिक , व्यवसायिक ,धार्मिक नैतिक और अन्य समूहों से भरे आधुनिक बहुलवादी समाज के सम्मुख अनिवार्य रूप से एक बड़ी समस्या यही है कि विभिन्न हितों तथा शासन के बीच सामजस्य कैस रहे। एक स्वतन्त्र समाज के लिए हित समूह को स्वतन्त्र रूप से संगठित होने की आवश्यकता रहती है और जब वे समूह सरकारी तन्त्र और प्रक्रिया को प्रभावित करने का यत्न करते है और इस प्रकार कानूनों, नियमों, लाइसेन्स, तथा अन्य विधायी और प्रशासकीय कार्यों को अपने अनुकूल ढालने की चेष्टा करते है तो वे हित समूह दबाव समूह में बदल जाते है और हित समूह की गतिविधियों सरकार पर दबाव डालने की हो जाती है।''

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक समय में जागरूक समाज विभिन्न आर्थिक, सामाजिक,राजनीतिकतथा अन्य आवश्यकताओं के लिये एकजुट हो हित समूह बनाते है। जब वे इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये वे सक्रिय होते है। और सरकार पर दबाव बनाने, प्रभावित करने का प्रयास करते है तब वह दबाव समूह में परिवर्तित हो जाते है। दबाव समूह एवं हित समूह मेंप्रमुख अन्तर निम्न हैः-

1.हित समूह अपने हितों की वृद्धि के लिये आग्रह , निवेदन आदि साधनों का प्रयोग करते है जबकि दबाव समूह सदैव दबाव की नीति अपनाते है।

2.हित समूह अपने हितों की रक्षा के लिये शासन को प्रभावित या उन्हें पीछे ढकलने का प्रयास नहीं करते है। इसके विपरीत दबाव समूह राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिये विशेष रूप से प्रयासरत रहते है।

3.हित समूह जागृत नागरिक समाज का हिस्सा होता है। ये हमेशा अपने हितों के लिये सजग रहते है। इनका राजनीति से किसी भी प्रकार का कोई संबंध नहीं रहता है। दबाव समूह सरकार पर दबाव बनाने के लिये हर माध्यम का प्रयोग करते हैं। वे राजनीति के साथ प्रत्यक्ष संबंध रखते है।

## 11.12 दबाव समूह राजनीति की प्रभावकारिता के निर्धारकः-

दबाव समूह का अस्तित्व आज के सभी लोकतन्त्रों में पाया जाता है। आज के लोकतन्त्रों की कल्पना भी दबाव समूहों के अभाव में नहीं की जा सकती है। यह अलग बात है कि कुछ लोकतन्त्रों में ये अत्याधिक प्रभावशाली होते है तथा कुछ स्थानों पर वह सक्रिय नहीं रहते है। एक्सटीन की मान्यता है कि ये तीन तत्व ही दबाव समूह के प्रभावशीलता को तय करते हैः-

1.दबाव समूह के स्वयं के लक्षण का प्रभाव

2.सरकार की गतिविधियों का प्रभाव

3.सरकार की संरचनाओं के निर्णय लेने के का प्रभाव

(1) दबाव समूह के लक्षणः- एक्सटीन के मतानुसार दबाव समूह की स्थिति भी कई बार उसकी प्रभावशीलता के लिये जिम्मेदार होते है। दबाव समूह की आर्थिक स्थिति, उनका आकार, संगठन का ढ़ाचा, कार्यकर्ताओं की निष्ठा, आदि दबाव समूह के प्रभाव को निर्धारित करते है। यह भी देखा गया है कोई दबाव समूह अपने सदस्यों की कर्मठता, निष्ठा तथा नेताओं की योग्यता से हर प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था मेंप्रभावी रहते है वहीं कुछ दबाव समूह आर्थिक मजबूत स्थिति तथा बड़ी सदस्य संख्या होने के बावजूद प्रभावी नहीं हो पाते है।

(2) सरकार की गतिविधियों का प्रभावः- सरकार की गतिविधियेां तथा उनके निर्णय लेने की क्षमता भी दबाव समूह के प्रभाव को को निश्चित करती है। सरकार का ढ़ाचा अनिवार्य रूप से दबाव समूह के प्रभाव को स्पष्ट करता है। जहाँ निरकुंश शासन व्यवस्था में दबाव समूह का प्रभाव नगण्य हो जाता है। वहीं लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में दबाव समूहो के समक्ष पर्याप्त अवसर रहता है। वे लोकतन्त्र में बेहद प्रभावशाली हो जाते है।

(3) सरकार के निणर्य लेने की क्षमता का प्रभावः- दबाव समूह की प्रभावशीलता भी अनेक कारणों से प्रभावित होती है। उनमें सरकार की निर्णय लेने की क्षमता भी एक है। यदि सरकार सक्षम है , त्वरित निर्णय लेने में समर्थ है तब कई बार नागरिक समाज से बने दबाव समूह के पास कार्यों को करने का अवसर ही नहीं रह जाता है। उन शासन व्यवस्था में दबाव समूह ज्यादा सक्रिय एवं कारगर रहते है। जहाँ पर सरकारें अनिर्णय की स्थिति में तथा असंवेदनशील होती है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दबाव समूह की प्रभावशीलता कई कारणों से प्रभावित होती है। सरकार की नीति निर्माण की क्षमता दबाव समूह के प्रभव को तय करते है। कतिपय यही कारण है पश्चिम के उदार लोकतन्त्रों में भी दबावसमूहों के प्रभाव शक्ति मेंअंतर पाया जाता हैं। विकासशील देशों मेंभी सरकार की नीति निर्णय प्रक्रिया की संरचना, दल पद्धति कास्वरुपतथा राजनीतिक व्यवस्था का संचालन भी दबाव समूहों के प्रभाव को घटाते एवं बढ़ाते दिखते है।

**11.13 दबाव समूह की सक्रियता के विभिन्न स्थानः-**

यह स्वीकार तथ्य है कि लोकतन्त्र में दबाव समूह अपरिहार्य है। उनका लोकतन्त्रों में व्यापक प्रभाव रहता है। इस संबंध में एलनबाल का कथन उल्लेखनीय है-'' उदारवादी लोकतन्त्रों में दबावसमूहों की कार्यविधियाँ मुख्यतः कार्यपालिका तथा संसदीय स्तरों पर निर्णयकारी प्रक्रियाओं को प्रभावित करेन से संबध रखती है। इसमेंसे किसी भी स्तर पर बल देने का प्रयास आंशिक रूप से इन तीन भिन्नताओं पर निर्भर करेगा।'' राजनीतिक संस्थायें, दल पद्धति, राजनीतिक संस्कृति।'' दबाव समूह हर लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था मेंसक्रिय रहते है। इनकी सक्रियता का प्रमुख जोर उन संस्थाओं पर रहता है जिनसे इनके हितों की रक्षा और पूर्ति संबंधी निर्णय लिये जाते है। दूसरे शब्दों मेंकहे तो सरकार के सभी अंगों के साथ दबाव समूह सक्रिय रहता है। वे हर निर्णय निर्माण, क्रियान्वयन के स्तर पर सक्रिय रहते है। वे कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका के साथ निकट संबंध रखते हुए , अपने हितों की पूर्ति कराने का प्रयास करते है। वे नौकरशाही के साथ भी घनिष्ठ संबंध रखते है। उनकी सक्रियता के विभिन्न स्थान निम्न हैः-

1.कार्यपालिका पर प्रभावः- समय गुजरने के साथ विधायिका की शक्तियों का क्षय हुआ और कार्यपालिका की शक्ति में वृद्धि हुई। कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र मेंवृद्धि हुई। कतिपय यही कारण है कि आधुनिक समय मेंदबाव समूह का लक्ष्य क्षेत्र ;ज्तंहमज ।तमंद्ध कार्यपालिका होती है। संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन दोनों ही व्यवस्थाओं मेंकार्यपालिका की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से विधि निर्माण के कार्य संलग्न रहती है। बजट निर्माण करना, कर प्रस्ताव, महत्वपूर्ण पदों के लिये नियुक्तियाँ आदि कार्यों मेंकार्यपालिका की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। अतः दबाव समूह कार्यपालिका के स्तर पर सक्रिय हो अपने हितों की पूर्ति का प्रयास करते है। इस कार्य हेतु वे मंत्रियां, विभिन्न मत्रांलयों की परामर्शदायी समितियों को , विरोधी खेमों के सदस्यों को प्रभावित करने का प्रसास करते है। वे व्यवस्थापिका मेंभी प्रश्नों को उठाकर कार्यपालिका को प्रभावित करने मेंसफल हो जाते है। आज के समय में कार्यपालिका के शक्तिशाली स्वरूप को देखते हुए दबाव समूह अपनी पूरी शक्ति कार्यपालिका के ऊपर लगाकर उनको प्रभावित करने का प्रयास करती है। संसदीय शासन व्यवस्था मेंआज व्यवस्थापिका अनुचर बन कर रह गई है। कतिपय यही कारण है कि आज कार्यपालिका दबाव समूहों के द्वारा सर्वाधिक प्रभावित किया जाता है।

2.व्यवस्थापिका पर प्रभावः- व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग है जो कानून बनाने का कार्य करती है। यही कारण दबाव समूह विधायिका को प्रभावित कर कानूनों को अपने हितों के अनुरूप बनवाने का प्रयास करते है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे चुनाव प्रचार, आर्थिक सहायता, द्वारा पहले विधायकों को अपने ऊपर आश्रित बना लेते है। उसके बाद वे उन्हीं के द्वारा अपने लिये विधि निर्माण करवाते है। इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण उदाहरण अमेरिका मेंमिलता है जहाँ चुनाव मेंदबाव समूह प्रत्याशियों के चयन से लेकर निर्वाचन तक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। कई बार यही कारण है कि अमेरिका मेंकाँग्रेस के सदस्य दलों की अपेक्षा दबाव समूह से अधिक घनिष्ठता दर्शाते है। इस संबंध मेंडी0 एम0 बर्मन ने लिखा है-'' कॉग्रेस (विशेषकर प्रतिनिधि सभा) के सदस्य अपने को दबाव समूह के पंजों में दबा हुआ महसूस करते है। अपने दल के आदेशों की तुलना मेंवे दबाव समूहों के आदेशों को ज्यादा महत्व देते है।'' इस संबंध मेंएलन वाल का विचार महत्वपूर्ण है। वे मानते है कि संसदीय शासनमेंदबाव समूह की सक्रियता बहुत महत्वपूर्ण है। आज व्यवस्थापिका कानून निर्माण की औपचारिकता ही निभाती है। यही कारण है दबाव समूह दल के

बड़ें नेताओं, अधिकारियों पर ध्यान केन्द्रित करते है। दबाव समूह राजनीतिक दलों का अधिक प्रभावित करते है। अमेरिका में जहां अध्यक्षात्मक शासन है वहाँ पर विधायकों के ऊपर दलीय अनुशासन कठोर नहीं होता है। वहां दबाव समूह विधायिका के सदस्यों को प्रभावित करने का प्रयास किया। वे कई बार उनसे दल के विरूद्ध दबाव समूह के हित में मतदान करते हुए भी दिखायी पड़ते है।

3.न्यायपालिका पर प्रभावः- लोकतन्त्रों मेंन्यायपालिका को स्वतन्त्र रखने का प्रयास किया गया है। संविधान के द्वारा न्यायपालिका को ही संविधान की रक्षा तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा की जिम्मेदारी दी गई है। कुछ देशों में न्यायपालिका के पास न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति होती है जिसकू द्वारा वे विधायिका एवं कार्यपालिका के ऊपर प्रभाव स्थापित करने मेंसफल हो जाते है। न्यायिक पुनरावलोकन के द्वारा न्यायपालिका की सर्वोच्चता अन्य दो अंगों पर स्थापित हो जाती है। इन व्यवस्थाओं मेंआम धारणा के विरूद्ध दबाव समूह न्यायपालिका में सक्रिय हो अपने हितों को साधने का प्रयास करती है। एलेन बाल के शब्दों में -'' अमेरिका मेंदबाव समूह ऐसे न्यायाधीशों के चुने जाने के लिये प्रयत्नशील रहते है जो बहुधा राजनीतिक रूप से सक्रिय रहे होते है। वे ' टेस्ट केसेज' का इस्तेमाल करके और न्यायाधीशों के कुछ निर्णयों का प्रभावित करने के लिये जन अभियान चलाकर, न्यायाधीशों पर दबाव डालने की कोशिश करते है।''

भारत में भी न्यायाधीशों को प्रभावित करने के प्रयास पूर्व में भी हुए है। और आज भी इसके उदाहरण मिल जाते है। भारत मेंप्रीवियर्स, तथा बैकों के राष्ट्रीयकरण के मुकदमें मेंसर्वोच्च न्यायालय मेंसुनवाई के समय दबाव समूह काफी सक्रिय दिखायी पड़े थे। कुछ विद्वान इन संकेतों को लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत नहीं मानते है। इसके बावजूद आधुनिक समय में दबाव समूह की कार्यप्रणाली, प्रभाव ऐसा है जिससे सरकार का कोई अंग बच नहीं सकता है।

4.प्रशासनिक स्तर पर प्रभावः- दबाव समूह प्रशासनिक अधिकारियों को भी प्रभावित करने का प्रयास करते है। सभी नीतियों, कानूनों का क्रियान्वयन प्रशासनिक अधिकारियों के द्वारा होता है। प्रदत्त विधायन मेंकानून बनाने मेंअधिकारियों एवं विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है। ऐसी स्थिति में दबाव समूह सक्रिय हो इनसे अपने हितों की पूर्ति करवाने का प्रयास करते है। एलन वाल का मत है कि विधि निर्माण तथा क्रियान्वयन के समय अपनी तकनीकी ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण अधिकारियों की स्थिति कई बार मंत्रियों से भी श्रेष्ठकर हो जाती है। ऐसे में दबाव समूह को अपने हित साधने का अवसर इन अधिकारियों को प्रभावित कर प्राप्त हो जाता है। विकासशील देशों में दबाव समूह की सक्रियता प्रशासनिक स्तर पर ज्यादा दिखायी पड़ता है।

5.निर्वाचन के स्तर पर प्रभाव:-दबाव समूह निर्वाचन के स्तर पर भी प्रभाव स्थापित करने का प्रयास करते है। इकबाल नारायण के शब्दों में-'' कई बार दबाव समूह जब अपने हितों की पूर्ति करने मेंअसफल हो जाते है तो वे चुनाव के अवसर पर आर्थिक शक्ति अथवा अन्य आधार पर राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करने का प्रयास करते है। जाति, प्रजाति, सम्प्रदाय , क्षेत्र तथा शक्ति के द्वारा वे सबसे पहले सभी राजनीतिक दलों क संभावित प्रत्याशियों की सूची में अधिकाधिक संख्या में अपने सदस्यों को शामिल करवाने का प्रयास करते है। इसके लिये दलों का आर्थिक समर्थन करते है। यदि वे ऐसा कराने में असफल होते है तो वे संबंधित दल के विरूद्ध प्रचार अभियान शुरू कर देते है। चुनाव जैसे-जैसे महंगा होता जा रहा है वैसे-वैसे दबाव समूहों का महत्व बढ़ता जा रहा है। आज दबाव समूह का प्रभाव

निर्वाचन मेंज्यादा है क्योंकि मँहगे चुनाव में प्रत्याशियों की निर्भरता धन के लिये इन दबाव समूहों पर ज्यादा हो गई है। अतः विजयी होने के बाद उन्हें अपने आर्थिक सहयोगी की इच्छानुसार चलना पड़ता है।

दबाव समूह की सक्रियता के ये स्तर लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से सम्बन्धित है। सर्वाधिकारवादी तथा निरंकुश शासन व्यवस्था मेंइनकी सक्रियता नहीं चल पाती है। सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मेंदबाव समूह का अस्तित्व तो ऐसा है परन्तु उनका प्रभाव बेहद कम होता है। वे राज्य नियन्त्रित उद्योगों के प्रबन्धक की भूमिका मेंरहते है।

## 11.14 दबाव समूह और लोकतन्त्र:-

दबाव समूह को लोकतन्त्र की आवश्यकता बताया जाता है। लोकतन्त्र मेंसरकारें जनता के पास पांच वर्षों के बाद आती है। पांच वर्ष से पहले राजनीतिक दल तथा दबाव समूह ही राजनीतिक व्यवस्था का संचालन करते है। वे आमजनता केा जागरूक करते है, सरकार कूनीतियों, कार्यक्रमों तथा उनकी खामियों का प्रचार करते है। वे सरकार के ऊपर समूह बनाकर दबाव बनाते है । तथा अपने हितों की पूर्ति करवाते हैं । वे कई बार सरकार के ऊपर अंकुश लगाने के लिये आंदोलन, प्रदर्शन, करना आदि का मार्ग भी अपनाते है। टूमैन ने अपनी पुस्तक गर्वनमेटंल प्रासेस में दबाव समूहों को लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सुरक्षा एवं उसके सरल संचालन के लिये आवश्यक माना है। उनका मानना था कि -'' प्रत्येक व्यक्ति एक से अधिक समूहों का सदस्य होता है अतः पारस्परिक प्रतियोगितारत समूहों के द्वारा खेल के नियमों के पालन में मर्यादा उल्लंघन किये जाने पर वह अपनी ओर से तीव्र प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं करता वरन अपने स्वयँ के समूह की भी मर्यादा का उल्लघंन नहीं करने देता। इस प्रकार सभी समूहों में आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया की ऐसी मर्यादा बन जाती है जिसका पालन सभी करते है। ऐसी स्थिति में किसी समूह या शासन के द्वारा सत्ता के दुरूपयोग की संभावना न्यूनतम रहती है। कोई भी समूह शक्तिशाली नहीं बन पाता तथा विविध समूहों तथा शासन के बीच एक शक्ति का एक सक्रिय संतुलन बना रहता है। यह लोकतन्त्र को आदर्श अवस्था है।'' वह आगे और स्पष्ट करते हुए कहते है कि यदि प्रतियोगिता अमर्यादित होगी तो जनतांत्रिक परम्परायें अक्षुण्ण नहीं रहेगी वरन लोकतन्त्र तभी सफल होगा जब समूह प्रतियोगितारत रहते हुए भी नियमों एवं सीमाओं का पालन को।

लोकतन्त्र में समूह बनाने की स्वतन्त्रता रहती है। कतिपय यही कारण है कि लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं में व्यक्ति एक साथ ही जातीय , धार्मिक, क्षेत्रीय , व्यवसायिक, भाषायी, वर्गीय, उपभोक्ता, उत्पादक आदि अनेक समूहों संगठनों का सदस्य होता है। इन संगठनों की सदस्यता औपचारिक नहीं होती परन्तु इसके बावजूद संकट के समय या सरकार के द्वारा अत्याचार के समय इन संगठनों के द्वारा न केवल विरोध किया जाता है वरन बड़ी संख्या में सहानुभूति एवं समर्थन जुटाया जाता है। यह लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत है। इसका द्वारा सरकारों के ऊपर नियन्त्रण स्थापित होता है। वे दूसरे संगठनों के साथ प्रतिस्पर्धा में रहते हुए भी वे सरकार को संतुलित एवं नियन्त्रित करने का कार्य करते है। कतिपय यही कारण है लोकतन्त्र के सफल संचालन के लिये दबाव समूहों की उपस्थिति अनिवार्य है।

दबाव समूह समाज में अतिवादी (उग्र) विचार के विरोधी होते है। विभिन्न समाजों मेंहित समूहों के अलग-अलग हित होते है। इन समूहों में शासन को अपनी ओर खींचने की प्रतियोगिता होती है। इस प्रतियोगिता से समूहों के बीच कुछ नियमों पर सहमति भी हो जाती है। सभी समूह उनका पालन करते है। ऐसे में कोई समूह बनना चाह कर भी नहीं बन पाता है। किसी भी समूह की उग्र एवं असंवैधानिक कार्यों एवं नीतियों को अन्य समूहों के द्वारा नियन्त्रित किया जाता

है। यही कारण है कि दबाव समूहों को शक्ति संतुलक भी कहा जाता है। वे आर्थिक, सामाजिक,राजनीतिक शक्तियों के बीच संतुलन स्थापित करते है। वे किसी एक संगठन एवं समूह को अत्याधिक प्रभावशाली नहीं होने देते है। कतिपय यही कारण है कि उन्हें समाज में शक्ति संतुलन को बनाये रखने तथा लोकतन्त्र को मजबूत करने वाला समूह माना जाता है। दूसरे शब्दों मेंकहे तो वे लोकतन्त्र के आधार स्तम्भ है। यह दो चुनाव के अंतराल में राजनीतिक गतिविधियों को संचालित करते है। ये सरकारों को नियन्त्रित करते है। यह सरकारों को उत्तरदायी बनाते है। यह जनता के हितों के लिये सरकार को उनकी माँगों से अवगत कराते है। सरकार को जनहित के प्रति सचेत करते है। ये समाज में विभिन्न समूहों एवं संगठन के उग्र प्रयासों को नियन्त्रित करते है। यह संगठनों को न केवल नियन्त्रित करते है वरन उनके बीच एक संतुलन बनाने का प्रयास करते है। उनके बिना लोकतन्त्र को सुदृढ़ एवं स्थिर रखने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। कतिपय यही कारण है कि दबाव समूहों को लोकतन्त्र की ' जीवन डोर ' कहा जाता है।

## 11.15 विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं (सरकारों) में दबाव समूह

रावर्ट सी बोन ने दबाव समूह के ऊपर व्यापक विश्लेषण किया। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक दबाव समूह राजनीतिक व्यवस्था मेंही कार्य करते है। हर राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूहों की स्थिति, उनकी प्रभावशीलता अलग-अलग होती है। बोन ने अध्ययन की सरलता के लिये दुनिया की राजनीतिक व्यवस्थाओं को पाँच भागों में बांटा। विभिन्न शासन व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका इस प्रकार हैः-

### 11.15.1 ऑग्ल अमेरिका राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह

प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था दबाव समूहों की गतिविधियों को निर्धारित करती है। इन दोनों देशों की राजनीतिक व्यवस्था में ऐसी विशिष्टतायें है जिनके कारण दबाव समूह भी विशेष स्थिति में ढल गये है। इन देशों में दबाव समूह की प्रकृति विशिष्ट प्रकार की बन गई है। इन देशों में दबाव समूह के प्रमुख लक्षण निम्न हैः-

(1) परीस्थितिजन्य दबाव समूहः- इन देशों में बहुसंख्यक दबाव समूह परीस्थिति जन्य होते है। आंग्ल-अमेरिकी व्यवस्था में' खेल के सिद्धान्तों' पर सहमति के कारण सभी दबाव समूह अपने सदस्यों की अवस्था की सुरक्षा तथा सुधार का लक्ष्य रखते है।

(2) विधि सम्मत प्रक्रियाओं में विश्वास:- ऑग्ल-अमेरिकी दबाव समूह विधि सम्मत प्रक्रियाओं मेंविश्वास करते है। वे असवैधानिक साधनों, हिंसा में विश्वास नहीं रखते है। वे क्रान्ति को भी महत्व नहीं देते है। वे प्रचलित ढ़ाचे में विश्वास रखते है तथा उसी मेंआवश्यक फेरबदल कर व्यवस्था मेंहित साधने का प्रयास करते है।

(3) स्वहित पर आधारित एवं परीस्थिति जन्यः- इन देशों मेंअधिकांश दबाव समूह परीस्थितिजन्य होते है। तथा स्वहित मेंकार्यरत होते है। वे विशिष्ट हित वादी होते है। वे कभी सामान्यहित अथवा समाज हित की भावना से न तो प्रेरित होते है और न ही उस दिशा में कार्य करते है।

(4) संस्थागत एवं समुदायात्मक दबाव समूहः- इंग्लैण्ड तथा अमेरिका का समाज एक विकसित समाज है अतः वहाँ पर अधिकांश दबाव समूह संस्थागत तथा समुदायात्मक होते है। यहाँ पर असमुदायात्मक दबाव समूह न के बराबर पाये जाते है।

(5) विशिष्टीकरण पर आधारित विशेषज्ञों का समूहः- अमेरिका एवं इंग्लैण्ड का समाज एक उन्नत एवं विकसित समाज है अतः यहाँ पर कार्य जटिल एवं तकनीकी तरह के होते है। उनको करने के लिये विशिष्ट एवं विशेषज्ञ प्रवृत्ति के लोगों की आवश्यकता होती है। ये पेशेवर एवं विशेषज्ञ लोग पूरे समय अपनेहितों के लिये प्रयासरत रहते है। ऐसे दबावसमूह अन्यत्र नहीं दिखायी पड़ते है।

(6) एक दूसरे पर निर्भरता तथा नियन्त्रण एवं संतुलनः- ब्रिटेन एवं अमेरिका का समाज एक विकसित समाज है। यहाँ के दबाव समूह कानूनों, परम्पराओं, रीतियों मेंविश्वास करने वाले होते है। ये सामान्य नियमों एवं सिद्धान्तों से निर्देशित होते है। ये आत्म संयम में विश्वास करते है। यह परस्पर विरोधी दृष्टिकोण के साथ समायोजन करने का प्रयास करते है। यह दबाव समूह 'संतुलन चक्र' के रूप में विभिन्न संस्थाओं व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं को संकुलित करते है।

अमेरिका एवं इंग्लैण्ड मेंपाये जाने वाले दबाव समूहों मेंउपरोक्त विशेषतायें दिखायी पड़ती है। इसके बावजूद इन दोनों देशों में दबाव समूहों मेंकुछ भेद भी दिखायी पड़ते है। इन दोनों देशों मेंसरकार की संरचनाओं व दलीय पद्धति में बड़ा अंतर है जिसका प्रभाव दबाव समूह पर दिखायी देता है। यही कारण है कि दबाव समूह की प्रकृति, संगठन एवं लक्ष्यों में अंतर दिखायी पड़ता है। इनके बीच पाये जाने वाला प्रमुख अंतर इस प्रकार हैः-

(1) नैतिकता एवं आदर्शो के आधार पर अंतरः- अमेरिका मेंदबाव समूहों को अच्छी नजर से नहीं देखा जाता है। वहां पर उनका इतिहास दागदार रहा है। इंग्लैण्ड मेंदबाव समूहों को संदेह की नजर से नहीं देखा जाता है। राबर्ट सी बोन ने लिखा है-'' अमेरिकी दबाव समूह ऐसी राजनीतिक संस्कृति मेंपरिचालित होते है कि अजीब विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक तरफ सभी दबाव समूह को अनुचित समझा जाता है दूसरी तरफ उन्हें प्रभाव डालने के विचित्र अवसर उपलब्ध कराये जाते है।'' अमेरिका की राजनीतिक व्यवस्था की यह विचित्र स्थिति है कि वहाँ पर सरकार एवं दलों से अपेक्षा नहीं की जाती की वह किसी प्रकार का कोई पहल करेंगें। वहाँ पर जनता से आशा की जाती है कि वे सरकार से तथा दलों से समस्याओं तथा समाधान की माँग करेगें। इस व्यवस्था मेंदबाव समूह महत्वपूर्ण हो जाते है। दूसरी तरफ ब्रिटेन में दबाव समूह को राजनीतिक प्रक्रिया का आवश्यक अंग माना जाता है। संसदीय शासन व्यवस्था , एकात्मक शासन के कारण ब्रिटेन की राजनीतिक संस्कृति दबाव समूहों को अपने मेंलपेटे रहती है। यहाँ पर दबाव समूहों को सकरात्मक रूप से सरकार का सहयोगी माना जाता है।

(2) शासन व्यवस्था के कारण अन्तर:- अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था के कारण दबाव समूह को शासन में प्रवेश करने तथा विशेष भूमिका अदा करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार का अवसर ब्रिटेन की संसदात्मक शासन व्यवस्था में वे नहीं प्राप्त कर पाते है। अमेरिका मेंशासन प्राप्त रिक्तता के कारण वे ज्यादा प्रभावी एवं शक्तिशाली हो जाते है।

(3) अमेरिका मेंदबाव समूह द्वारा मांगों को प्रस्तुत करना जबकि ब्रिटेन मेंराजनीतिक दलालों के द्वाराः- अमेरिका मेंदबाव समूह की मांगों को प्रस्तुत कर सरकार के ऊपर दबाव बनाने का प्रयास करते है। इसके ठीक विपरीत ब्रिटेन में दबाव समूह के स्थान पर राजनीतिक दल अधिक प्रभावी रहते है। और वे ही इन कार्यों को करते है। संसदीय शासन व्यवस्था मेंदलों की सरकार के उत्थान एवं पतन में विशेष भूमिका रहती है। अंतः यहाँ पर दबाव समूह मांगों के लिये दबाव बनाने का कार्य नहीं करते है।

(4) जनता की राजनीतिक उदासीनता के कारण अमेरिका मेंदबाव समूह की सक्रियताः- अमेरिका की शासन व्यवस्था मेंदेखा गया है कि वहाँ के नागरिक राष्ट्रपति के निर्वाचन में तो बढ़चढ़ कर हिस्सेदारी करती है। परन्तु अन्य राजनीतिक कार्यों मेंउसकी हिस्सेदारी कम ही रहती है। इसके विपरीत ब्रिटेन में जनता अधिक सजग, सक्रिय एवं राजनीतिक रूप से जागरूक है। यही कारण है कि वह राजनीतिक दलों के साथ मिलकर शासन मेंअधिक प्रभावी भूमिका अदा करती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अमेरिका तथा ब्रिटेन में अलग-अलग शासन व्यवस्था के अस्तित्व के कारण दबाव समूहों की भूमिका एवं प्रभाव मेंव्यापक अंतर दिखायी पड़ता है। ब्रिटेन मेंराजनीतिक दल एवं जागृत समाज के कारण दबाव समूहों का प्रभाव क्षेत्र कम हो जाता है। वहां पर दलों एवं दबाव समूहों के संबंधों को बढ़ावा दिया जाता है। वहां पर दबाव समूहों एवं प्रशासकीय अधिकारिकयों के साथ संबंधों को शंका की नजर से नहीं देखा जाता है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका मेंइन संबंधों को शंका एवं अनैतिक दृष्टि से देखा जाता है। ब्रटेन मेंसंसद सदस्य अनेक श्रम संघों से न केवल जुड़े हुए है वरन उनसे आर्थिक मदद भी प्राप्त करते है। इसके विपरीत अमेरिका मेंदबाव समूहों का संबंध राजनेताओं एवं प्रशासनिक अधिकारियों से गुपचुप एवं रहस्यमयी संबंध रखते है। उनसे मिलने वाली सहायता भी गोपनीय रखी जाती है। वहाँ उक्सर इन आर्थिक मदद से पदा उठते ही राजनेताओं के राजनीतिक जीवन पर खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि अमेरिका मेंदबाव समूहों का प्रभाव एवं महत्व नहीं है। अमेरिका में दबाव समूहों की गोपनीय एवं रहस्यमयी भूमिका मेंउत्तरोतर वृद्धि होती जा रही है। यहाँ पर यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि इन दोनों देशों मेंदबाव समूह का अस्तित्व है उनका प्रभाव है परन्तु वे किसी भी राजनीतिक दल को नियन्त्रित करने की स्थिति में नहीं है। इसके विपरीत फ्रांस सहित अन्य यूरोपीय देशोंमेंदबाव समूहों का नियन्त्रण राजनीतिक दलों के ऊपर देखा जा रहा है। अमेरिका मेंसंघात्मक शासन, शकित पृथक्करण , कांग्रेस की समितियों के असीमित अधिकार, ठोस अनुशासन वाले दलों का अभाव दबाव समूहों को शासन मेंघुसपैठ करने का पर्याप्त अवसर प्रदान कर देता ह। उनकी राजनीति उग्र, व्यापक एवं महत्वपूर्ण हो जाती है।

**11.15.2 यूरोपीय राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूहः-**

इटली एवं फ्रांस को छोड़कर सभी यूरोपीय राजय इस समूह में माने जाते है। इन देशों की राजनीति का एक विशेष पैटर्न है। यूरोपीय देशों मेंप0 जर्मनी में आंग्ल-अमेरिकी राजनीतिक व्यवस्था के अनुरूप दबाव समूह अत्याधिक बड़ें एवं प्रभावशाली है। यहाँ के प्रमुख दो दल दबाव समूहों का मिलन का स्थान बन गये है। ये राजनीतिक दलों को धन देते है। इनके 40 प्रतिशत सदस्य दबाव समूह के होते है जो विधायिका में चुन कर आते है। जर्मनी में दबाव समूहों को शंका की नजर से नहीं देखा जाता है। वे शासन संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है।

फिनलैण्ड, स्वीडन, बेल्जियम, नीदरलैण्ड, आस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड आदि राज्यों में राजनीतिक संस्कृतियो की समानता के कारण दबाव समूह की भूमिका भी एक ही प्रकार पायी जाती है। यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह की भूमिका को स्वीकार किया जाता है। यहाँ पर प्रत्येक कर्मचारी किसी न किसी दबाव समूह से सम्बन्धित रहते है। ये अधिकाशतः श्रमिक संघों के सदस्य होते है। जर्मनी की तरह इन देशों में राजनीतिक दल, दबाव समूहों तथा उनके सदस्यों को प्रत्याशी के रूप में स्वीकार करते है। सरकार प्रायः नीति निर्माण करते समय सम्बन्धित दबाव समूहों से

परामर्श भी करती है। इन देशों में दबाव समूह अपनी शक्ति, प्रभाव के द्वारा सतुंलनकारी यंत्र बन राजनीतिक व्यवस्था के संचालन मेंसहायक होते है।

**11.15.3 इटली एवं फ्रांस में दबाव समूह की भूमिका:-**

इटली एंव फ्रांस की राजनीतिक व्यवस्था कास्वरुपशेष यूरोपीय देशों से भिन्न है। राजनीतिक व्यवस्था की विलक्षणता के कारण इन देशों में दबाव समूहों की भूमिका अलग एवं विलक्षण तरह की बन गयी है। फ्रांस में पाँचवें गणतन्त्र से पहले राजनीतिक अस्थिरता का युग था। पाँचवें गणतन्त्र के संविधान के बाद स्थितियों में बदलाव आया। वहां पर कार्यपालिका के शक्तिशाली होने के कारण दबाव समूहों को नौकरशाही एवं कार्यपालिका से अपने कार्य कराने पड़ते है। वहाँ पर दबाव समूह विशेषीकृत पेशेवर कार्यकर्ताओं के द्वारा संचालित होने लगे है। वहाँ की राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूहों की विशेष भूमिका नहीं है।

इटली के दबाव समूह भी विशेष समूह भी विशेष राजनीतिक संस्कृति के कारण विचित्र बन गये है। जोसेफ लॉ पालोम्बरा ने अपनी पुस्तक '' इस्टेस्ट ग्रूप इन इटालियन पॉलिटिक्स'' मेंदबाव समूहों की अनोखी प्रकृति का विश्लेषण किया। इटली की विखडिंत एवं अलगाववादी राजनीतिक संस्कृति के कारण दबाव समूहों की अत्याधिक संख्या है। पालोम्बरा ने रोम मेंही तीन हजार से अधिक समूहों की संख्या बतायी है। ये निरन्तर राजनीतिक व्यवस्था मेंहस्तक्षेप करते है। यहाँ के दबाव समूह फ्रांस की तरह राजनीतिक दलों पर '' नियन्त्रण स्थापित करते हुए दिखायी पड़ते है। यहाँ पर दबाव समूहों की प्रकृति, संगठन, गतिविधियाँ एवं कार्यशैली विलक्षण है। ये किसी एक संरचना मेंनहीं बांधे जा सकते है। ये मिश्रित प्रकृति रखते है। इन व्यवस्थाओं में दबाव समूह कट्टरता से भरे हुए केवल अपने को सही मानने वाले होते है। यह दलों का प्रभावित ही नहीं करते वरन उनपर नियन्त्रण भी स्थापित करते है। कई दबाव समूह दलों के पिछलग्गू बन हितों को साधने का प्रयास करते है। इनके अविश्वसनीय रवैये के कारण जनता कई बार इनके प्रति संदेह का रवैया अपनाने लगती हैं।

**11.15.4 सर्वाधिकारी राजनीतिक व्यवस्था मेंदबाव समूह:-**

सर्वाधिकारवादी व्यवस्था मेंनिर्णय लेने का अधिकार एक स्थान पर केन्द्रित रहता है। ऐसे मेंबाहर से निर्णय निर्माण को प्रभावित करना सरल नहीं रहता है। यहाँ पर दबाव समूहों का अस्तित्व ही विरोधीभासी प्रतीत होता है। प्रायः यह भी देखा जाता है कि यहाँ पर ऐसे समूहों को कुचल दिया जाता है। इन सर्वाधिकारी राजयों मेंबल प्रयोग पर जोर दिया जाता है। यहाँ पर इनका अस्तित्व होना ही महत्व की चीज है। इनकी पश्चिमी देशों की तरह सक्रियता संभव ही नहीं है। नाजी जर्मनी में दल के विभिन्न गुट, पुलिस, सैनिक निकाय, नौकरशाही, बड़े व्यापारी हितों तथा हिटलर के सलाहकारों के बीच प्रतिस्पर्धा रहती थी जो इस बात का प्रमाण था कि निरंकुश शासन व्यवस्था में संस्थात्मक एवं समुदायात्मक दबाव समूह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहे है। यहाँ कठोर नियन्त्रण के पीछे दबाव समूह क्रियाशील रहते है तथा कभी-कभी प्रभावी ढ़ग से प्रकट भी होते हैं साम्यवादी व्यवस्था में भी अधिक सख्ती एवं हिंसा के बावजूद दबाव समूहों का अस्तित्व मिलता है। वहां पर साम्यवादी दल के अंदर ही समूहों मेंप्रतिस्पर्धा दिखायी पड़ती है। यहां पर दल के अधिकारी तथा बुद्धिजीवियों के समूहों को दबाव समूह के रूप मेंलिया जाता है। रूस एवं चीन मेंसेना भी दबाव समूह के रूप में कार्य करती दिखायी पड़ती है। रूस मेंयुद्ध नायक मार्शल जुकोव को तथा चीन में मार्शल जिन

पियाओ को रक्षामंत्री पद से हटाया जाना इसका संकेत है। यहां पर प्रदर्शनात्मक दबाव समूह का अस्तित्व सदैव रहता है।

## 11.15.5 विकासशील राष्ट्रों मेंदबाव समूह

विकासशील देशों में राजनीतिक व्यवस्थाओं एवं सरंचनायें संक्रमण के दौर से गुजर रही है। वहाँ पर राजनीतिक सिद्धान्त, राजनीतिक संस्कृति अभी स्थापित नहीं हो पाई है। अतः इन व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की प्रकृति, कार्यशैली एवं प्रभाव मेंअंतर पाया जाता है। यहाँ का समाज परम्परावादी है जिसके कारण असमुदायत्मक दबाव समूह राजनीतिक दलों के रूप मेंकुलीन, जातीय, नृजातीय, वर्गीय, गुटीय, हितों के आगे बढ़ाने का प्रयास करते है। इनमें कुछ आधुनिक तत्वों की उपस्थिति संस्थात्मक दबाव समूहों को भी जन्म देते है। सभी विकासशील देशों में स्वतन्त्रता संघर्ष के समय से ही ट्रेड यूनियन का गठन तथा महत्वपूर्ण भूमिका स्थापित हो गई थी। यही कारण है कि यहाँ पर स्वतन्त्रता बाद ट्रेड यूनियनों ने संस्थात्मक दबाव समूह का रूप धारण किया।

इन राज्यों मेंकुछ प्रदर्शनात्मक दबाव समूह भी पाये जाते है। इनका प्रभाव अन्य देशों से ज्यादा रहता है। विकासशील राज्यों मेंसेनाओं से संबन्धित संस्थात्मक दबाव समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। सैनिक नेतृत्व भावनात्मक एकता के द्वारा राजनीतिक व्यवस्था पर दबाव डालता है। यहाँ पर सेना एक प्रमुख दबाव समूह है।

यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इन विकासशील देशों में विकासशील देशों मेंविकास के साथ संस्थागत एवं समुदायात्मक दबाव समूहों की संख्या एवं महत्व मेंवृद्धि होगी। राजनीतिक व्यवस्थाओं में सुविकसित राजनीतिक दलों के अभाव के कारण प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों का स्थान एवं महत्व बढ़ रहा है। विद्यार्थियों का आंदोलन विकसित राज्यों मेंअधिक होने की संभावना रहती है। ये विद्यार्थी आंदोलन विकसित राज्यों में अधिक प्रभावशाली दबाव समूह के रूप में दिखायी देते हैं। विकासशील देशों में विद्यार्थियों की मूलभूत सुविधाओं के अभाव के कारण प्रदर्शनात्मक दबाव समूह के रूप मेंविकसित होने की प्रबल संभावना है। इस प्रकार यहां पर समुदायात्मक तथा संस्थागत दबाव समूहों के प्रभावशाली होने की परीस्थितियाँ बनती जा रही है। दूसरी तरफ सेना एवं विद्यार्थियों के प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों के उदय के भी लक्षण दिख रहे है। यह भी सत्य है कि समय गुजरने के साथ ही विकासशील देशों में इनकी संख्या मेंवृद्धि होगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी राजनीतिक व्यवस्थाओं में दबाव समूहों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। कही पर यह सृजन की भूमिका में तो कही विध्वंस की भूमिका मेंहै। राजनीतिक संस्कृति में परिवर्तन के साथ दबाव समूहों की प्रकृति मेंपरिवर्तन आता जा रहा है। मानव सामाजिक प्राणी है। अतः चेतना एवं जागृति के साथ वह समूह मेंसंगठित होगा और आने वाले समय में दबाव समूह का प्रभाव एवं महत्व बढ़ता जायेगा। अमेरिका में प्रदर्शनात्मक दबाव समूहों भरमार तथा सेनाओं का शासन व्यवस्थाओं में दखल इस बात का संकेत है कि भविष्य मेंदबाव समूहों का अस्तित्व एंव भूमिका अलग होगी। भविष्य में राजनीतिक दलों के सहयोगी के रूप में दबाव समूह का महत्व बढ़ेगा।

अभ्यास के प्रश्नः-

(1) मजदूर संघों को कहा जाता है-

(1) लेगर आर्गनाइजेशन (2) लेबर असेम्बली (3) टे[a]ड यूनियन (4) कोई नहीं

(2) वर्तमन मेंदबाव समूह है-

(अ) लोकतन्त्र विरोधी (ब) लोकतत्र समर्थक एवं सहयोगी

(स) अलोकतान्त्रिक (द) सभी

(3) निम्न में से कौन अज्ञात साम्राज्य है-

(अ) राजनीतिक दल (ब) राजनेता (स) राजनीतिक संस्थायें (द) दबाव समूह

(4) दबाव समूह होते है-

(अ) राजनीतिक (ब) अराजनीतिक(स) दोनों (द) कोई नहीं

(5) निम्न में से कौन सा राजनीतिक दल का लक्षण नहीं है-

(अ) ऐच्छिक संगठन (ब) जनहित संगठन (स) औपचारिक संगठन

(द) निश्चत शक्ति

## 11.16 सारांश

दबाव समूह का इतिहास उतना ही पुराना है जितना की लोकतन्त्र का । पश्चिम के देशों में दबाव समूह का उदय हुआ। आज दुनिया के सभी देशों में इनका अस्तित्व पाया जाता है। यह सत्य है कि लोकतन्त्र जितना अधिक परिपक्व एवं मजबूत होगा उतना ही वहां पर दबाव समूहों का अस्तित्व होगा।

समय गुजरने के साथ जन आंकाक्षाओं मेंआये उभार एवं बढ़ती जरूरतों ने सरकार के ऊपर दबाव बनाने एवं उनसे त्वरित रूप से लाभ पाने के लिये दबाव समूह का उदय हुआ। आज अमेरिका से शुरू हुई दबाव समूहों की यात्रा लगभग दुनिया के सभी देशों मेंपहुँची है। वह चाहे संसदीय शासन हो या अध्यक्षात्मक एक चीज सामान्य रूप से पायी जाती है, वो दबाव समूह। यहाँ आश्चर्य है कि दबाव समूह केवल लोकतन्त्र में ही नहीं दिखायी पड़ते वरन वे सर्वाधिकारवादी शासन व्यवस्थाओं में सैनिक तन्त्र, अधिकारी तन्त्र के रूप में तथा साम्यवादी व्यवस्थाओं मेंदलीय समूह, अधिकारी समूह के रूप में दृष्टिगत होती है।

दबाव समूह कास्वरुपविभिन्न शासन व्यवस्थाओं मेंबदल जाता है। विकसित शासन व्यवस्थाओं में इनका स्वरूप अलग एवं प्रगतिशील अथवा विकासशील शासन व्यवस्थाओं में इनका स्वरूप बदल जाता है। ये आज बेहद , प्रभावशाली, एवं शक्तिशाली हो गये है। ये दुनिया की सभी शासन व्यवस्थाओं में पाये जाते है। कतिपय यही कारण था कि फाइनर इन्हें ' अज्ञात साम्राज्य' कहता था।

## 11.17 शब्दावली:-

समुदायात्मक दबाव समूह (**Associational Pressure Group**)- समुदाय के हितों के लिये सगंठित समूह इसमें आते है। जैसे व्यापारी संघ, किसान संघ, मजदूर संघ।

प्रदर्शनकारी दबाव समूह (**Anomic Pressure Group**)- ये वे दबाव समूह है जो माँगों को लेकर हिंसक, संविधान विरूद्ध कार्य करने से परहेज नहीं रखते। जैसे छात्र संगठन, नक्सल संगठन आदि।

संस्थागत दबाव समूहः- वे दबाव समूह जिनका संसगठित ढा़चा होता है तथा जो किसी संस्था से जुड़े होते है। जैसे - भारतीय पुलिस सेवा संघ, सैनिक कल्याण परिषद, भारतीय प्रशासनिक सेवा संघ।

जनहित याचिकाः- व्यापक जन कल्याण के निहितार्थ सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालय मेंडाली गई याचिका को जनहित याचिका कहते है। यह किसी तीसरे पक्ष द्वारा प्रेषित होती है।

लॉबींगः- अपने हितों की पूर्ति के लिये कानून बनाने वालों से विधानमण्डल के सभाकक्ष मेंया अन्य स्थान पर मिलना हित साधना, कानून बनवाना लॉबींग कहलाता है।

## 11.18 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. स, 2.ब, 3. द, 4.ब, 5.स

## 11.19 सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1.मल्ल वी0पी0, सिंह अजय, राजनीति विज्ञान
2.गेना आर0वी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें
3.जैन आर0वी0, तुलनात्मक राजनीति
4.राय गांधी जी, तुलनात्मक राजनीति
5.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त

## 11.20 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्रीः-

1.सोडारो माइकल, कम्पेरटिव पालिटिक्स
2.गाबा, ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा
3.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त
4.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें

## 11.21 निबन्धात्मक प्रश्नः-

1.दबाव समूह से क्या समझते है? इनकी प्रमुख विशेषतायें बताइये।
2.दबाव समूह को परिभाषा दीजिये तथा आधुनिक शासन व्यवस्था मेंमहत्व स्पष्ट कीजिये।
3.दबाव समूह के विभिन्न वर्गीकरणों स्पष्ट करते हुए वर्तमान राजनीतिक व्यवस्थाओं में उनकी भूमिका स्पष्ट कीजिये।
4.दबाव समूह पर एक निबन्ध लिखिये।

# इकाई 12 नागरिक समाज एवं हित समूह

इकाई संरचना

12.1 प्रस्तावना

12.2 उद्देश्य

12.3 नागरिक समाज: अवधारणा और सैद्धान्तिक विकास

12.4 नागरिक समाज की संरचना और विशेषताएँ

12.5 हित समूह: अर्थ और सैद्धान्तिक व्याख्या

12.6 हित समूहों का वर्गीकरण

12.7 नागरिक समाज और हित समूह : अंतर्संबंध

12.8 लोकतंत्र में भूमिका और महत्व

12.9 भारतीय संदर्भ में नागरिक समाज और हित समूह

12.10 आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य

12.11 सारांश

12.12 शब्दावली

12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

12.14 निबंधात्मक प्रश्न

12.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

## 12.1 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को केवल सरकार, संविधान और औपचारिक संस्थाओं के ढाँचे के माध्यम से समझना आज पर्याप्त नहीं माना जाता। राज्य और नागरिकों के बीच एक ऐसा मध्यवर्ती क्षेत्र सक्रिय रहता है, जहाँ सत्ता का प्रत्यक्ष प्रयोग नहीं होता, किंतु जहाँ से सत्ता को निरंतर प्रभावित, नियंत्रित और दिशा प्रदान की जाती है। इसी क्षेत्र को **नागरिक समाज** कहा जाता है। नागरिक समाज राज्य से बाहर स्थित होते हुए भी उससे पूर्णतः अलग नहीं होता; यह राज्य और समाज के बीच संवाद, आलोचना और सहभागिता का माध्यम बनता है।

नागरिक समाज उन स्वैच्छिक संगठनों, सामाजिक आंदोलनों, गैर-सरकारी संस्थाओं, पेशेवर संघों, ट्रेड यूनियनों, मीडिया और नागरिक पहलों का समुच्चय है, जो सार्वजनिक हित, अधिकारों और सामाजिक सरोकारों को संगठित रूप में अभिव्यक्त करते हैं। यह क्षेत्र लोकतंत्र में जनभागीदारी को संस्थागत रूप देता है और सत्ता के केंद्रीकरण पर

नियंत्रण स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी कारण नागरिक समाज को लोकतंत्र का नैतिक और सामाजिक आधार भी माना जाता है।

नागरिक समाज के भीतर ही **हित समूहों** का उद्भव होता है। हित समूह वे संगठित समूह होते हैं जो किसी विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक या वैचारिक हित की रक्षा और अभिव्यक्ति के लिए राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं। ये समूह प्रत्यक्ष रूप से सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य नहीं रखते, बल्कि नीति-निर्माण, विधायी प्रक्रिया और प्रशासनिक निर्णयों पर दबाव बनाकर अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं। इस दृष्टि से हित समूह लोकतांत्रिक व्यवस्था में मांगों और अपेक्षाओं को व्यवस्थित रूप से सामने लाने का माध्यम बनते हैं।

यह इकाई नागरिक समाज और हित समूहों को केवल वर्णनात्मक स्तर पर नहीं, बल्कि **सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य** में समझने का प्रयास करती है। इसमें हेगेल, मार्क्स, ग्राम्शी और टॉकविल जैसे विचारकों की अवधारणाओं के माध्यम से नागरिक समाज के सैद्धान्तिक विकास का अध्ययन किया जाएगा, साथ ही बहुलतावादी और यथार्थवादी दृष्टिकोणों के संदर्भ में हित समूहों की भूमिका का विश्लेषण किया जाएगा। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट किया जाएगा कि नागरिक समाज और हित समूह किस प्रकार लोकतांत्रिक शासन को सुदृढ़ करते हैं, तथा किन परिस्थितियों में वे संकीर्ण स्वार्थों, असमान शक्ति-संतुलन और लोकतांत्रिक विकृतियों को भी जन्म दे सकते हैं।

इस प्रकार, यह इकाई शिक्षार्थियों को यह समझने में सक्षम बनाती है कि आधुनिक लोकतंत्र केवल राज्य की संस्थाओं से नहीं चलता, बल्कि नागरिक समाज और हित समूहों के सक्रिय हस्तक्षेप से निरंतर रूप से आकार ग्रहण करता है। नागरिक समाज और हित समूहों की भूमिका को समझे बिना समकालीन राजनीतिक प्रक्रिया और लोकतांत्रिक शासन की सम्यक व्याख्या संभव नहीं है।

## 12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् शिक्षार्थी—

1. नागरिक समाज और हित समूहों की **अवधारणा तथा प्रमुख सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों** को समझ सकेंगे।
2. लोकतंत्र में उनकी **भूमिका और महत्व**, विशेष रूप से नीति-निर्माण और जनभागीदारी के संदर्भ में स्पष्ट कर सकेंगे।
3. **भारतीय संदर्भ में** नागरिक समाज और हित समूहों की प्रकृति तथा प्रभाव का विश्लेषण कर सकेंगे।
4. नागरिक समाज और हित समूहों से जुड़ी **मुख्य चुनौतियों और सीमाओं** का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

## 12.3 नागरिक समाज: अवधारणा और सैद्धान्तिक विकास

नागरिक समाज की अवधारणा राजनीतिक सिद्धांत में एक स्थिर या एकरूप विचार नहीं रही है, बल्कि इसका विकास विभिन्न दार्शनिक, ऐतिहासिक और वैचारिक परम्पराओं के अंतर्गत हुआ है। प्रत्येक विचारक ने नागरिक समाज को अपने समय की सामाजिक संरचना, आर्थिक संबंधों और राज्य की भूमिका के संदर्भ में परिभाषित किया है। इस कारण नागरिक समाज को समझने के लिए इसके **सैद्धान्तिक विकास** का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

**हेगेल** के विचारों में नागरिक समाज राज्य और परिवार के बीच स्थित एक मध्यवर्ती क्षेत्र के रूप में उभरता है। उनके अनुसार परिवार भावनात्मक और नैतिक संबंधों पर आधारित होता है, जबकि राज्य सार्वभौमिक हित और नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों के बीच नागरिक समाज वह क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने निजी हितों, आर्थिक आवश्यकताओं और स्वार्थों की पूर्ति करता है। हेगेल नागरिक समाज को प्रतिस्पर्धा, असमानता और टकराव का क्षेत्र मानते हैं, जहाँ व्यक्तिगत हित अक्सर सार्वभौमिक हित से संघर्ष करते हैं। इसलिए वे नागरिक समाज को स्वायत्त तो मानते हैं, किंतु उसे राज्य द्वारा नियंत्रित और संतुलित किए जाने की आवश्यकता पर बल देते हैं।

**कार्ल मार्क्स** ने हेगेल की अवधारणा की आलोचना करते हुए नागरिक समाज को भिन्न दृष्टि से प्रस्तुत किया। मार्क्स के लिए नागरिक समाज पूँजीवादी उत्पादन संबंधों का प्रतिबिंब है, जहाँ वर्गों के बीच असमानता और शोषण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उनके अनुसार नागरिक समाज आर्थिक संरचना से गहराई से जुड़ा हुआ है और यह शासक वर्ग के हितों की रक्षा करता है। नागरिक समाज में विद्यमान स्वतंत्रता और समानता केवल औपचारिक होती है, वास्तविकता में यह वर्ग-संघर्ष और पूँजीवादी वर्चस्व का क्षेत्र बन जाता है। इस दृष्टि से मार्क्स नागरिक समाज को राज्य से अलग कोई तटस्थ या नैतिक क्षेत्र नहीं मानते, बल्कि उसे पूँजीवादी व्यवस्था का अभिन्न अंग मानते हैं।

**एंतोनियो ग्राम्शी** ने नागरिक समाज की अवधारणा को एक नया आयाम प्रदान किया। उन्होंने नागरिक समाज को केवल आर्थिक या कानूनी संरचना तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे **वैचारिक प्रभुत्व (hegemony)** के निर्माण का क्षेत्र माना। ग्राम्शी के अनुसार शासक वर्ग केवल बल या दमन के माध्यम से शासन नहीं करता, बल्कि नागरिक समाज के माध्यम से सहमति का निर्माण करता है। शिक्षा, धर्म, मीडिया, संस्कृति और सामाजिक संस्थाएँ नागरिक समाज के ऐसे उपकरण हैं जिनके माध्यम से प्रभुत्व स्थापित किया जाता है। साथ ही ग्राम्शी यह भी स्वीकार करते हैं कि नागरिक समाज प्रतिरोध और वैकल्पिक विचारधाराओं के उभरने का क्षेत्र भी बन सकता है। इस प्रकार नागरिक समाज संघर्ष और परिवर्तन दोनों का मंच है।

**अलेक्सिस द टॉकविल** ने नागरिक समाज को लोकतांत्रिक शासन का एक आवश्यक आधार माना। उन्होंने स्वैच्छिक संगठनों, संघों और नागरिक पहलों को लोकतंत्र की रक्षा करने वाला तत्व बताया। टॉकविल के अनुसार नागरिक समाज राज्य की अत्यधिक शक्ति को सीमित करता है और नागरिकों में सहभागिता, सहयोग तथा

उत्तरदायित्व की भावना विकसित करता है। वे नागरिक समाज को अधिनायकवाद और बहुसंख्यक अत्याचार के विरुद्ध संतुलनकारी शक्ति के रूप में देखते हैं। इस दृष्टिकोण में नागरिक समाज लोकतंत्र को केवल राजनीतिक नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से भी सुदृढ़ करता है।

इसी परम्परा को समकालीन संदर्भों में आगे बढ़ाते हुए जुर्गन हाबरमास ने नागरिक समाज को सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sphere) से जोड़ा। उनके अनुसार नागरिक समाज वह संवादात्मक क्षेत्र है जहाँ राज्य और बाजार से अपेक्षाकृत स्वतंत्र रहते हुए नागरिक तर्कसंगत विमर्श के माध्यम से जनमत का निर्माण करते हैं। हाबरमास के लिए नागरिक समाज लोकतंत्र की संप्रेषणीय नींव है, क्योंकि यही वह क्षेत्र है जहाँ सत्ता की नीतियों की आलोचनात्मक समीक्षा संभव होती है।

वहीं माइकल वल्ज़र ने नागरिक समाज को नैतिक और बहुलतावादी समुदायों का क्षेत्र माना है। उनके अनुसार नागरिक समाज न तो राज्य का विस्तार है और न ही केवल बाजार की उपज, बल्कि यह उन स्वैच्छिक सामाजिक संबंधों का जाल है जहाँ व्यक्ति अपनी पहचान, मूल्यों और नैतिक प्रतिबद्धताओं के साथ जुड़ते हैं। वल्ज़र के विचारों में नागरिक समाज सामाजिक न्याय और सह-अस्तित्व का ऐसा मंच बनता है, जो लोकतंत्र को सामाजिक आधार प्रदान करता है।

इन विभिन्न सैद्धान्तिक दृष्टिकोणों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि नागरिक समाज को न तो पूर्णतः राज्य-विरोधी क्षेत्र के रूप में देखा जा सकता है और न ही उसे राज्य का मात्र उपकरण माना जा सकता है। नागरिक समाज एक **स्वायत्त लेकिन प्रभावशाली क्षेत्र** है, जो एक ओर निजी हितों, वर्ग-संघर्ष और वैचारिक प्रभुत्व को प्रतिबिंबित करता है, वहीं दूसरी ओर लोकतांत्रिक चेतना, जनभागीदारी और प्रतिरोध की संभावनाओं को भी जन्म देता है। यही द्वैत नागरिक समाज को राजनीतिक सिद्धांत और व्यवहार—दोनों के लिए एक केंद्रीय अवधारणा बनाता है।

## 12.4 नागरिक समाज की संरचना और विशेषताएँ

नागरिक समाज आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था का वह महत्वपूर्ण क्षेत्र है जो राज्य और बाजार से अलग होते हुए भी दोनों से निरंतर संवाद और अंतःक्रिया में रहता है। इसकी संरचना बहुस्तरीय, लचीली और स्वैच्छिक संगठनों पर आधारित होती है। नागरिक समाज की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

### 1. स्वैच्छिक और गैर-राजकीय प्रकृति

नागरिक समाज की सबसे बुनियादी विशेषता इसकी स्वैच्छिक प्रकृति है। इसमें व्यक्ति किसी विधिक या सरकारी बाध्यता के बिना अपनी रुचि, चेतना और सामाजिक दायित्व के आधार पर भाग लेते हैं। यह राज्य की औपचारिक सत्ता संरचनाओं से बाहर कार्य करता है और इसीलिए इसे गैर-राजकीय क्षेत्र माना जाता है। यद्यपि यह राज्य से पूर्णतः

पृथक नहीं होता, फिर भी इसकी स्वायत्तता इसे सत्ता की आलोचना और सामाजिक हस्तक्षेप की क्षमता प्रदान करती है। यही स्वायत्तता नागरिक समाज को लोकतंत्र में संतुलनकारी भूमिका निभाने योग्य बनाती है।

**2. संस्थागत विविधता**

नागरिक समाज की संरचना एकरूप नहीं होती, बल्कि इसमें विविध प्रकार की संस्थाएँ और संगठन सम्मिलित होते हैं। गैर-सरकारी संगठन (NGOs) सामाजिक सेवा, विकास और अधिकार-आधारित कार्यों में संलग्न रहते हैं। सामाजिक आंदोलन सत्ता की नीतियों और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध प्रस्तुत करते हैं। मीडिया सार्वजनिक विमर्श को आकार देने और सूचना के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, जबकि ट्रेड यूनियन और पेशेवर संगठन श्रमिकों तथा विशिष्ट वर्गों के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह संस्थागत विविधता नागरिक समाज को बहुलतावादी बनाती है और समाज के विभिन्न वर्गों की आवाज़ को राजनीतिक प्रक्रिया तक पहुँचाती है।

**3. सत्ता पर निगरानी और आलोचना**

नागरिक समाज की एक महत्वपूर्ण भूमिका सत्ता पर निगरानी रखना और उसकी आलोचनात्मक समीक्षा करना है। यह कार्य नागरिक समाज विभिन्न तरीकों से करता है—जनमत निर्माण, जनहित याचिकाएँ, मीडिया हस्तक्षेप, रिपोर्ट और अध्ययन प्रस्तुत करके। लोकतंत्र में यह भूमिका विशेष रूप से आवश्यक होती है क्योंकि यह सत्ता के केंद्रीकरण, भ्रष्टाचार और मनमानी को सीमित करती है। इस संदर्भ में नागरिक समाज को 'वॉचडॉग' की भूमिका निभाने वाला माना जाता है।

**4. अधिकारों और नागरिक चेतना का विस्तार**

नागरिक समाज नागरिकों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करता है और उन्हें सक्रिय भागीदारी के लिए प्रेरित करता है। मानवाधिकार, महिला अधिकार, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक न्याय जैसे मुद्दों पर कार्यरत संगठन नागरिक चेतना को विकसित करते हैं। इसके माध्यम से नागरिक केवल मतदाता न रहकर सक्रिय और जागरूक सहभागी बनते हैं। इस प्रक्रिया में नागरिक समाज लोकतंत्र को केवल संस्थागत नहीं, बल्कि सामाजिक रूप से भी सुदृढ़ बनाता है।

**5. लोकतांत्रिक मूल्यों का संरक्षण**

नागरिक समाज स्वतंत्रता, समानता, सहिष्णुता, बहुलता और संवाद जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों को संरक्षित और प्रोत्साहित करता है। यह समाज में असहमति को वैधता देता है और शांतिपूर्ण विरोध तथा संवाद की संस्कृति को बढ़ावा देता है। जब राज्य या बहुसंख्यक प्रवृत्तियाँ लोकतांत्रिक मूल्यों को सीमित करने लगती हैं, तब नागरिक समाज एक नैतिक और वैचारिक प्रतिरोध के रूप में सामने आता है।

## 12.5 हित समूह: अर्थ और सैद्धान्तिक व्याख्या

आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति में हित समूहों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। हित समूह ऐसे संगठित समूह होते हैं जो अपने सदस्यों के विशिष्ट सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक अथवा वैचारिक हितों की रक्षा और अभिव्यक्ति के लिए कार्य करते हैं। इनका उद्देश्य प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना नहीं होता, बल्कि नीति-निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करना, सरकारी निर्णयों को अपने अनुकूल ढालना तथा सार्वजनिक नीतियों पर दबाव बनाना होता है। इस कारण हित समूहों को राजनीतिक दलों से भिन्न माना जाता है, क्योंकि राजनीतिक दल सत्ता पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास करते हैं, जबकि हित समूह सत्ता के इर्द-गिर्द कार्य करते हैं।

हित समूहों की सैद्धान्तिक व्याख्या मुख्यतः बहुलतावादी (Pluralist) परम्परा में विकसित हुई है। इस परम्परा के अंतर्गत राजनीति को विभिन्न संगठित हितों के बीच प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और समझौते की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।

### आर्थर बेंटले का दृष्टिकोण

आर्थर एफ. बेंटले ने अपनी प्रसिद्ध कृति *The Process of Government* में राजनीति को व्यक्तियों या संस्थाओं की नहीं, बल्कि हित समूहों की पारस्परिक अंतःक्रिया का परिणाम माना। उनके अनुसार समाज में कोई भी राजनीतिक गतिविधि तब तक समझी नहीं जा सकती जब तक यह न देखा जाए कि विभिन्न हित समूह किस प्रकार एक-दूसरे पर दबाव डालते हैं और राज्य की नीतियों को प्रभावित करते हैं। बेंटले के लिए राज्य स्वयं एक तटस्थ मध्यस्थ नहीं, बल्कि हित समूहों की शक्तियों का समेकित परिणाम होता है। इस प्रकार उन्होंने राजनीति को एक गतिशील सामाजिक प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया।

### डेविड ट्रूमैन का दृष्टिकोण

डेविड ट्रूमैन ने अपनी पुस्तक *The Governmental Process* में हित समूहों को लोकतांत्रिक संतुलन बनाए रखने वाला तत्व माना। उन्होंने 'डिस्टर्बेंस थ्योरी' (Disturbance Theory) प्रस्तुत की, जिसके अनुसार समाज में जब भी किसी समूह के हितों पर खतरा उत्पन्न होता है, तो वह स्वतः संगठित होकर अपने हितों की रक्षा के लिए सक्रिय हो जाता है। ट्रूमैन के अनुसार हित समूहों की बहुलता लोकतंत्र को स्थिरता प्रदान करती है, क्योंकि विभिन्न समूह एक-दूसरे की शक्ति को संतुलित करते हैं और किसी एक वर्ग का प्रभुत्व स्थापित नहीं होने देते।

### रॉबर्ट डाहल का बहुलतावादी दृष्टिकोण

रॉबर्ट डाहल ने बहुलतावादी लोकतंत्र की अवधारणा में हित समूहों को शक्ति-वितरण का प्रमुख माध्यम माना। उनके अनुसार आधुनिक लोकतंत्र में सत्ता किसी एक वर्ग या संस्था के हाथ में केंद्रीकृत नहीं होती, बल्कि विभिन्न हित

समूहों, संगठनों और संस्थाओं के बीच विभाजित रहती है। डाहल ने 'पॉलीआर्की' की अवधारणा के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि हित समूह लोकतांत्रिक सहभागिता को व्यापक बनाते हैं और नीति-निर्माण प्रक्रिया में अनेक आवाज़ों को स्थान देते हैं। हालांकि उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि सभी समूह समान रूप से शक्तिशाली नहीं होते, फिर भी हित समूह लोकतांत्रिक राजनीति को अधिक समावेशी बनाते हैं।

समग्र रूप से देखा जाए तो हित समूह आधुनिक लोकतंत्र में मध्यस्थ संस्थाओं के रूप में कार्य करते हैं, जो नागरिकों और राज्य के बीच सेतु का निर्माण करते हैं। वे न केवल राजनीतिक भागीदारी को सशक्त बनाते हैं, बल्कि नीति-निर्माण को अधिक बहुलतावादी और उत्तरदायी बनाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हालांकि उनकी भूमिका पर असमान शक्ति-संतुलन और अभिजात्य प्रभाव जैसी आलोचनाएँ भी की जाती हैं, फिर भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया में उनकी उपस्थिति को अनदेखा नहीं किया जा सकता।

## 12.6 हित समूहों का वर्गीकरण

आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति में हित समूह एकरूप नहीं होते, बल्कि उनकी संरचना, कार्यक्षेत्र, उद्देश्यों और प्रभाव के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। इस वर्गीकरण से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रकार के हित समूह किस प्रकार नीति-निर्माण प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं और राज्य–समाज संबंधों को आकार देते हैं।

### 1. संस्थागत हित समूह

संस्थागत हित समूह वे समूह होते हैं जो राज्य की औपचारिक संस्थाओं के भीतर कार्य करते हैं और जिनकी पहचान स्वयं किसी संस्था से जुड़ी होती है। इनमें नौकरशाही, सेना और न्यायपालिका प्रमुख उदाहरण हैं। यद्यपि ये संस्थाएँ प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक समूह नहीं मानी जातीं, फिर भी इनके सामूहिक हित, पेशेवर स्वायत्तता और विशेषाधिकार इन्हें प्रभावशाली हित समूह बना देते हैं।

नौकरशाही प्रशासनिक नीतियों, बजट आवंटन और कार्यान्वयन के माध्यम से नीति-निर्माण को प्रभावित करती है। सेना राष्ट्रीय सुरक्षा और रक्षा नीति से जुड़े मुद्दों पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जबकि न्यायपालिका अपने निर्णयों और संवैधानिक व्याख्याओं के माध्यम से राज्य की नीतियों की दिशा तय करती है। इस प्रकार संस्थागत हित समूह लोकतांत्रिक व्यवस्था के भीतर रहते हुए भी नीति-निर्माण पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

### 2. व्यावसायिक और आर्थिक हित समूह

व्यावसायिक और आर्थिक हित समूह वे संगठन होते हैं जो व्यापार, उद्योग और पूँजी से जुड़े हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उद्योग संघ, व्यापार मंडल, किसान संगठन और पेशेवर निकाय इस श्रेणी में आते हैं। ये समूह कर-नीति, श्रम कानून, औद्योगिक लाइसेंस, निवेश नीति और व्यापार नियमों को प्रभावित करने का प्रयास करते हैं।

आर्थिक संसाधनों और संगठनात्मक क्षमता के कारण इन समूहों की पहुँच अक्सर नीति-निर्माताओं तक अधिक होती

है। इस कारण आलोचक इन्हें लोकतंत्र में असमान प्रभाव का स्रोत मानते हैं। फिर भी, ये समूह आर्थिक विकास, रोजगार सृजन और नीति-निर्माण में विशेषज्ञता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

**3. सामाजिक और पहचान आधारित समूह**

सामाजिक और पहचान आधारित हित समूह समाज के उन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी पहचान जाति, लिंग, जनजाति, धर्म या अन्य सामाजिक विशेषताओं पर आधारित होती है। महिला संगठन, दलित आंदोलन, आदिवासी समूह और अल्पसंख्यक संगठनों को इस श्रेणी में रखा जाता है।

इन समूहों का उद्देश्य केवल भौतिक हितों की रक्षा नहीं होता, बल्कि सामाजिक न्याय, समानता, गरिमा और अधिकारों की मान्यता सुनिश्चित करना होता है। ये समूह ऐतिहासिक वंचना और सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध संघर्ष करते हुए लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार ये हित समूह लोकतांत्रिक राजनीति में नैतिक और सामाजिक आयाम जोड़ते हैं।

**4. वैचारिक और मुद्दा आधारित समूह**

वैचारिक और मुद्दा आधारित हित समूह विशिष्ट विचारधाराओं या सामाजिक मुद्दों पर केंद्रित होते हैं। पर्यावरण संरक्षण, मानवाधिकार, पारदर्शिता, भ्रष्टाचार विरोध, उपभोक्ता अधिकार और सूचना का अधिकार जैसे विषयों पर कार्यरत संगठन इस श्रेणी में आते हैं।

इन समूहों की पहचान किसी वर्ग विशेष से नहीं, बल्कि किसी साझा विचार या समस्या से जुड़ी होती है। ये समूह जनमत निर्माण, जन जागरूकता, नीति विश्लेषण और आंदोलन के माध्यम से राज्य पर दबाव बनाते हैं। आधुनिक समय में मीडिया और डिजिटल मंचों के उपयोग से इन समूहों की प्रभावशीलता और पहुँच में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

समग्र रूप से देखा जाए तो हित समूहों का यह वर्गीकरण यह स्पष्ट करता है कि लोकतांत्रिक राजनीति केवल चुनाव और दलों तक सीमित नहीं है, बल्कि अनेक संगठित हितों की निरंतर सहभागिता से संचालित होती है। यही विविधता लोकतंत्र को जीवंत बनाती है, साथ ही शक्ति-संतुलन और जवाबदेही की नई चुनौतियाँ भी प्रस्तुत करती है।

## 12.7 नागरिक समाज और हित समूह : अंतर्संबंध

नागरिक समाज और हित समूह आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था के दो ऐसे घटक हैं जो अलग-अलग होते हुए भी गहराई से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। नागरिक समाज एक व्यापक सामाजिक मंच प्रदान करता है, जहाँ व्यक्ति और समूह राज्य की औपचारिक सत्ता से बाहर रहकर अपने विचार, असंतोष, आकांक्षाएँ और सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करते हैं। इसके विपरीत, हित समूह उसी व्यापक नागरिक समाज के भीतर उभरने वाली अधिक संगठित, लक्ष्य-उन्मुख और संरचित इकाइयाँ होते हैं, जो विशिष्ट मांगों और हितों को राजनीतिक प्रक्रिया तक पहुँचाने का कार्य करते हैं।

नागरिक समाज का मुख्य योगदान लोकतांत्रिक चेतना के निर्माण में निहित होता है। यह नागरिकों में अधिकारबोध, उत्तरदायित्व, सहभागिता और आलोचनात्मक सोच को विकसित करता है। सामाजिक आंदोलन, स्वैच्छिक संगठन, मीडिया और बौद्धिक विमर्श नागरिक समाज के माध्यम से ही सत्ता के निर्णयों पर प्रश्न उठाते हैं और वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रक्रिया में नागरिक समाज लोकतंत्र को केवल चुनावी प्रक्रिया तक सीमित न रखकर उसे एक सतत सामाजिक संवाद में परिवर्तित करता है।

हित समूह इस विकसित चेतना को संगठित राजनीतिक दबाव में रूपांतरित करने का कार्य करते हैं। वे विशिष्ट हितों को स्पष्ट एजेंडे, मांग-पत्र, लॉबिंग, वार्ता और संस्थागत दबाव के माध्यम से नीति-निर्माण प्रक्रिया तक पहुँचाते हैं। इस प्रकार जहाँ नागरिक समाज अपेक्षाकृत व्यापक, अनौपचारिक और मूल्य-आधारित होता है, वहीं हित समूह अधिक औपचारिक, रणनीतिक और उद्देश्य-केंद्रित होते हैं। नागरिक समाज विचारों और मूल्यों का पोषण करता है, जबकि हित समूह उन विचारों को व्यावहारिक राजनीतिक हस्तक्षेप में बदलते हैं।

दोनों के बीच यह अंतर्संबंध लोकतांत्रिक प्रक्रिया को सशक्त बनाता है। नागरिक समाज के बिना हित समूह संकीर्ण स्वार्थों तक सीमित हो सकते हैं, जबकि हित समूहों के बिना नागरिक समाज की आवाज़ अक्सर बिखरी और अप्रभावी रह जाती है। इसलिए दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं—नागरिक समाज लोकतंत्र की नैतिक और वैचारिक भूमि तैयार करता है, और हित समूह उस भूमि पर संगठित राजनीतिक कार्रवाई को संभव बनाते हैं।

हालाँकि यह संबंध हमेशा संतुलित नहीं होता। कभी-कभी शक्तिशाली हित समूह नागरिक समाज के व्यापक हितों पर हावी हो जाते हैं, जिससे लोकतांत्रिक समानता प्रभावित होती है। इसके बावजूद, एक स्वस्थ लोकतंत्र में नागरिक समाज और हित समूहों के बीच निरंतर संवाद और संतुलन लोकतांत्रिक जवाबदेही, सहभागिता और बहुलता को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

इस प्रकार नागरिक समाज और हित समूह मिलकर लोकतांत्रिक शासन को न केवल कार्यशील बनाते हैं, बल्कि उसे अधिक समावेशी, उत्तरदायी और जीवंत भी बनाते हैं।

## 12.8 लोकतंत्र में भूमिका और महत्व

लोकतांत्रिक व्यवस्था में नागरिक समाज और हित समूह केवल सहायक इकाइयाँ नहीं हैं, बल्कि वे लोकतंत्र की कार्यशीलता और गुणवत्ता को निर्धारित करने वाले महत्वपूर्ण तत्व हैं। प्रतिनिधि लोकतंत्र की सीमाओं को देखते हुए ये दोनों लोकतंत्र को सहभागी, उत्तरदायी और जीवंत बनाने में केंद्रीय भूमिका निभाते हैं।

### नीति-निर्माण में जनभागीदारी

नागरिक समाज और हित समूह नीति-निर्माण प्रक्रिया में जनभागीदारी को संभव बनाते हैं। आम नागरिक सीधे सरकार

तक अपनी बात नहीं पहुँचा सकता, किंतु संगठित समूहों के माध्यम से उसकी आवाज़ नीति-निर्माताओं तक पहुँचती है। जनसुनवाई, ज्ञापन, सार्वजनिक विमर्श और परामर्श प्रक्रियाओं के माध्यम से ये समूह नीति-निर्माण को अधिक सहभागी बनाते हैं। इससे नीतियाँ केवल ऊपर से थोपी गई व्यवस्थाएँ न होकर सामाजिक आवश्यकताओं से जुड़ी होती हैं।

**सत्ता के केंद्रीकरण पर नियंत्रण**

लोकतंत्र में सत्ता का केंद्रीकरण अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को जन्म दे सकता है। नागरिक समाज और हित समूह सत्ता पर निगरानी रखकर इस केंद्रीकरण को सीमित करते हैं। विरोध, आलोचना और वैकल्पिक विमर्श के माध्यम से ये समूह सत्ता को जवाबदेह बनाते हैं। यह भूमिका विशेष रूप से तब महत्वपूर्ण हो जाती है जब निर्वाचित सरकारें बहुमत के आधार पर लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर करने का प्रयास करती हैं।

**अल्पसंख्यक और वंचित वर्गों की आवाज़**

लोकतंत्र में संख्या के आधार पर निर्णय लेने की प्रवृत्ति अल्पसंख्यक और वंचित वर्गों को हाशिये पर धकेल सकती है। नागरिक समाज संगठन और पहचान-आधारित हित समूह इन वर्गों की आवाज़ को संगठित रूप देते हैं। दलित, आदिवासी, महिलाएँ और धार्मिक अल्पसंख्यक अपने अधिकारों और सम्मान के लिए इन्हीं मंचों के माध्यम से संघर्ष करते हैं। इससे लोकतंत्र अधिक समावेशी बनता है।

**राजनीतिक उत्तरदायित्व और पारदर्शिता**

नागरिक समाज और हित समूह राजनीतिक उत्तरदायित्व तथा पारदर्शिता को बढ़ावा देते हैं। सूचना के अधिकार, भ्रष्टाचार विरोधी अभियान और स्वतंत्र मीडिया के माध्यम से सत्ता के निर्णयों को सार्वजनिक जांच के दायरे में लाया जाता है। इससे न केवल सरकारी संस्थाओं पर दबाव बनता है, बल्कि नागरिकों का लोकतांत्रिक विश्वास भी सुदृढ़ होता है।

**लोकतांत्रिक संस्कृति का संस्थानीकरण**

लोकतंत्र केवल संवैधानिक प्रावधानों से नहीं, बल्कि नागरिक संस्कृति से जीवित रहता है। नागरिक समाज संवाद, सहिष्णुता, असहमति और शांतिपूर्ण विरोध की संस्कृति को संस्थागत रूप देता है। यही लोकतांत्रिक संस्कृति दीर्घकाल में लोकतंत्र की स्थिरता और गहराई सुनिश्चित करती है।

## 12.9 भारतीय संदर्भ में नागरिक समाज और हित समूह

भारत में नागरिक समाज की जड़ें औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता आंदोलन में निहित हैं। महात्मा गांधी के नेतृत्व में चले आंदोलनों ने स्वैच्छिक सहभागिता, नैतिक प्रतिरोध और जनसंगठन की परंपरा विकसित की। स्वतंत्रता के बाद नागरिक समाज ने राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाई।

स्वतंत्र भारत में नागरिक समाज ने सामाजिक न्याय, भूमि सुधार, महिला सशक्तिकरण, पर्यावरण संरक्षण और सूचना के अधिकार जैसे क्षेत्रों में निर्णायक योगदान दिया। आरटीआई आंदोलन, चिपको आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन और महिला आंदोलनों ने यह सिद्ध किया कि नागरिक समाज नीतियों को प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

भारतीय हित समूहों की एक विशिष्ट विशेषता यह है कि वे अक्सर जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रीय पहचान से जुड़े होते हैं। जाति-आधारित संगठन, किसान यूनियन, क्षेत्रीय समूह और धार्मिक संगठन नीति-निर्माण पर प्रभाव डालते हैं। इससे भारतीय लोकतंत्र जटिल तो बनता है, परंतु साथ ही यह बहुलतावादी और जीवंत भी होता है। यह विविधता भारतीय लोकतंत्र की शक्ति भी है और चुनौती भी।

## 12.10 आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य

नागरिक समाज और हित समूह लोकतंत्र को सुदृढ़ करते हैं, किंतु इनके कार्य-कलापों से जुड़ी कई समस्याएँ और सीमाएँ भी हैं।

### संसाधन-संपन्न समूहों का वर्चस्व

आर्थिक और संगठनात्मक संसाधनों से युक्त हित समूह नीति-निर्माण पर disproportionate प्रभाव डालते हैं। इससे कमजोर और वंचित वर्गों की आवाज़ दब जाती है, और लोकतांत्रिक समानता प्रभावित होती है।

### असमान प्रतिनिधित्व

सभी सामाजिक वर्ग समान रूप से संगठित नहीं होते। कई हाशिये पर स्थित समूह नागरिक समाज में भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं पा पाते। इससे लोकतांत्रिक भागीदारी अधूरी रह जाती है।

### विदेशी वित्तपोषण और एजेंडा राजनीति

कुछ नागरिक समाज संगठन विदेशी वित्तपोषण पर निर्भर होते हैं, जिससे उनके उद्देश्यों और कार्यों की स्वायत्तता पर प्रश्न उठते हैं। आलोचकों के अनुसार यह राष्ट्रीय प्राथमिकताओं और नीतिगत संप्रभुता को प्रभावित कर सकता है।

**जनहित और समूह हित का टकराव**

कई बार हित समूह अपने संकीर्ण हितों को जनहित के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिससे नीति-निर्माण में असंतुलन उत्पन्न होता है। इस टकराव से लोकतंत्र में वैधता और नैतिकता की समस्या उभरती है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि नागरिक समाज और हित समूह लोकतंत्र के लिए अनिवार्य हैं, परंतु उनकी भूमिका तभी सकारात्मक और सार्थक हो सकती है जब वे पारदर्शिता, समावेशन और जनहित के मूल्यों से संचालित हों। यही संतुलन लोकतंत्र को सुदृढ़ और उत्तरदायी बनाता है।

**अभ्यास प्रश्न**

1. नागरिक समाज की अवधारणा को 'वैचारिक प्रभुत्व' से किस विचारक ने जोड़ा है?
(A) हीगल
(B) मार्क्स
(C) ग्राम्शी
(D) टॉकविल

2. राजनीति को हित समूहों की अंतःक्रिया का परिणाम किसने माना?
(A) डहल
(B) बेंटले
(C) ट्रूमैन
(D) हाबरमास

3. 'डिस्टर्बेंस थ्योरी' किस विचारक से संबंधित है?
(A) बेंटले
(B) ग्राम्शी
(C) ट्रूमैन
(D) वॉल्ज़र

4. हित समूहों का मुख्य उद्देश्य क्या होता है?
(A) सत्ता पर कब्जा करना
(B) संविधान संशोधन

(C) नीति-निर्माण को प्रभावित करना
(D) सरकार का गठन

5. भारतीय नागरिक समाज की जड़ें मुख्यतः किसमें निहित मानी जाती हैं?
(A) पंचायती राज व्यवस्था
(B) स्वतंत्रता आंदोलन
(C) आर्थिक उदारीकरण
(D) संवैधानिक सुधार

## 12.11 सारांश

यह इकाई नागरिक समाज और हित समूहों की अवधारणा, संरचना, भूमिका तथा लोकतांत्रिक व्यवस्था में उनके महत्व का समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करती है। नागरिक समाज राज्य और बाजार के बाहर स्थित वह सामाजिक क्षेत्र है जहाँ नागरिक स्वैच्छिक रूप से संगठित होकर सत्ता, नीतियों और सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित करते हैं। वहीं हित समूह नागरिक समाज के भीतर उभरने वाली संगठित इकाइयाँ हैं, जो विशिष्ट हितों और मांगों को नीति-निर्माण प्रक्रिया तक पहुँचाने का कार्य करती हैं।

इस इकाई में नागरिक समाज की सैद्धान्तिक व्याख्या हिगेल, मार्क्स, ग्राम्शी, टॉकविल, हाबरमास और वॉल्ज़र जैसे विचारकों के माध्यम से की गई है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि नागरिक समाज न तो पूर्णतः राज्य-विरोधी है और न ही राज्य का मात्र उपकरण, बल्कि एक स्वायत्त और प्रभावशाली क्षेत्र है। हित समूहों की व्याख्या बेंटले, ट्रूमैन और डाहल के बहुलतावादी दृष्टिकोण के अंतर्गत की गई है, जहाँ राजनीति को विभिन्न हितों की प्रतिस्पर्धा और संतुलन की प्रक्रिया के रूप में देखा गया है।

लोकतंत्र में नागरिक समाज और हित समूह नीति-निर्माण में जनभागीदारी बढ़ाते हैं, सत्ता के केंद्रीकरण पर नियंत्रण रखते हैं, वंचित वर्गों की आवाज़ को मंच प्रदान करते हैं तथा पारदर्शिता और उत्तरदायित्व को सुदृढ़ करते हैं। भारतीय संदर्भ में इनकी जड़ें स्वतंत्रता आंदोलन में मिलती हैं और स्वतंत्रता के बाद सामाजिक न्याय, पर्यावरण संरक्षण और अधिकार-आधारित आंदोलनों में इनकी भूमिका निर्णायक रही है।

साथ ही इकाई यह भी स्पष्ट करती है कि संसाधन-संपन्न समूहों का वर्चस्व, असमान प्रतिनिधित्व, विदेशी वित्तपोषण और जनहित बनाम समूह हित का टकराव जैसी समस्याएँ लोकतांत्रिक प्रक्रिया के लिए गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। अतः नागरिक समाज और हित समूह लोकतंत्र के लिए आवश्यक तो हैं, परंतु उनका सकारात्मक योगदान संतुलन, पारदर्शिता और जनहित के प्रति प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है।

## 12.12 शब्दावली

**नागरिक समाज (Civil Society)** – राज्य और बाजार से बाहर स्थित वह सामाजिक क्षेत्र जहाँ नागरिक स्वैच्छिक रूप से संगठित होकर कार्य करते हैं।

**हित समूह (Interest Group)** – ऐसे संगठित समूह जो नीति-निर्माण को प्रभावित करते हैं, न कि प्रत्यक्ष सत्ता प्राप्त करना।

**बहुलतावाद (Pluralism)** – वह दृष्टिकोण जो सत्ता को विभिन्न समूहों में वितरित मानता है।

**हेजेमनी (Hegemony)** – ग्राम्शी द्वारा प्रयुक्त अवधारणा, जिसमें सहमति के माध्यम से प्रभुत्व स्थापित किया जाता है।

**पॉलीआर्की (Polyarchy)** – डाहल की अवधारणा, जो आधुनिक लोकतंत्र में बहुकेन्द्रीय सत्ता को दर्शाती है।

**नीति-निर्माण (Policy Making)** – राज्य द्वारा सार्वजनिक नीतियों के निर्माण और क्रियान्वयन की प्रक्रिया।

**लॉबिंग (Lobbying)** – नीति-निर्माताओं पर संगठित दबाव डालने की प्रक्रिया।

**सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sphere)** – हाबरमास की अवधारणा, जहाँ तर्कपूर्ण संवाद के माध्यम से जनमत बनता है।

## 12.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. C, 2. B, 3. C, 4.C, 5.B

## 12.14 निबंधात्मक प्रश्न

**1.** नागरिक समाज की अवधारणा की सैद्धान्तिक व्याख्या कीजिए।

2. हित समूहों की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

3. नागरिक समाज और हित समूहों के अंतर्संबंध की विवेचना कीजिए।

4. भारतीय संदर्भ में नागरिक समाज और हित समूहों की भूमिका का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

## 12.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

Bentley, Arthur F. The Process of Government. Chicago: University of Chicago Press.

Truman, David B. The Governmental Process. New York: Alfred A. Knopf.

Dahl, Robert A. Who Governs? Democracy and Power in an American City. Yale University Press.

Gramsci, Antonio. Selections from the Prison Notebooks. Lawrence and Wishart.

Hegel, G. W. F. Elements of the Philosophy of Right. Cambridge University Press.

Marx, Karl. The German Ideology. International Publishers.

Tocqueville, Alexis de. Democracy in America. University of Chicago Press.

Habermas, Jürgen. The Structural Transformation of the Public Sphere. MIT Press.

Walzer, Michael. Toward a Global Civil Society. Berghahn Books.

वर्मा, एस. पी. राजनीतिक समाजशास्त्र. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

मिश्र, रामाश्रय. आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

शर्मा, महेन्द्र प्रसाद. राजनीतिक सिद्धांत : अवधारणाएँ और विचारक. नई दिल्ली।

चतुर्वेदी, बी. एन. भारतीय राजनीतिक व्यवस्था. दिल्ली: मैकमिलन।

# इकाई 13 जनमत

**इकाई संरचना**

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 जनमत क्या है?

13.4 जनमत का अर्थ और परिभाषा

13.5 जनमत: विकास और प्रभाव

13.6 राजनीति में जनमत की भूमिका

13.7 जनमत और सरकार

13.8 विश्व जनमत

13.9 जनमत को आकार देने वाले प्रभावशाली कारक

13.10 जनता की राय को आकार देने वाली प्रभावशाली हस्तियाँ और घटनाएं

13.11 सारांश

13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.13 शब्दावली

13.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.15 निबंधात्मक प्रश्न

## 13.1 प्रस्तावना

जनता की राय लोगों की सामूहिक आवाज़ के रूप में कार्य करती है, जो सरकार और राजनीति से संबंधित मामलों पर उनकी प्राथमिकताओं, मूल्यों और विश्वासों को दर्शाती है। विवादास्पद नीतिगत बहसों से लेकर चुनावी

प्रतियोगिताओं तक, जनता की राय राजनीतिक प्रवचन और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं की दिशा तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भविष्य के नेताओं और नीति निर्माताओं के रूप में, आपके लिए जनमत की जटिलताओं और लोकतांत्रिक समाजों में शासन के लिए इसके निहितार्थ को समझना अनिवार्य है।

इस इकाई की यात्रा के दौरान, हम व्यक्तिगत राय की भूमिका से लेकर संगठित समूहों, सरकारी नेताओं और मीडिया अभिजात वर्ग के प्रभाव तक, जनमत पर विभिन्न दृष्टिकोणों की जांच करेंगे। हम जनमत को मापने के लिए उपयोग किए जाने वाले तरीकों, जैसे कि चुनाव और सर्वेक्षण, का भी पता लगाएंगे, और विश्लेषण करेंगे कि राजनेता, हित समूह और मीडिया अपने एजेंडे को आगे बढ़ाने और सार्वजनिक चर्चा को आकार देने के लिए इन उपकरणों का लाभ कैसे उठाते हैं।

जनमत की गहरी समझ प्राप्त करके, आप समकालीन राजनीति की जटिलताओं से निपटने, नीति प्रस्तावों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने और विविध निर्वाचन क्षेत्रों के साथ प्रभावी ढंग से जुड़ने के लिए बेहतर ढंग से सुसज्जित होंगे। तो, आइए जनमत के इस ज्ञानवर्धक अन्वेषण की शुरुआत करें, जहां आप उन अंतर्दृष्टियों को उजागर करेंगे जो शासन और लोकतंत्र के बारे में आपकी समझ को समृद्ध करेंगी। इस इकाई में, हम जनमत की बहुमुखी प्रकृति, नीति परिणामों को आकार देने में इसके महत्व और इसके गठन को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों का पता लगाएंगे।

## 13.2 उद्देश्य

1. जनमत का अर्थ और परिभाषा समझ पाएंगे।
2. जनमत की विकास यात्रा को समझ पायेंगें।
3. जनमत की राजनीति में भूमिका को समझ पायेंगें।

## 13.3 जनमत क्या है?

जनमत मूल रूप से राजनीतिक मामलों से संबंधित असंख्य नागरिकों की सामूहिक आवाज है, जिसमें मुद्दों, नेताओं, संस्थानों और घटनाओं पर उनके विचार और हित शामिल हैं। ये विचार व्यक्तियों की प्राथमिकताओं और विश्वासों से आकार लेते हैं, जो यह दर्शाते हैं कि वे दुनिया के बारे में क्या चाहते हैं और क्या समझते हैं। प्राथमिकताएं, इच्छाओं को प्रतिबिंबित करती हैं, और विश्वास, जो समझ का संकेत देते हैं, अक्सर प्रस्तुत विकल्पों के जवाब में अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्त किए जाते हैं। जनता की राय राजनीतिक विषयों की एक विस्तृत श्रृंखला तक फैली हुई है, जिसमें सरकारी आंकड़ों, नीतियों, वर्तमान परिस्थितियों और पक्षपात और विचारधारा जैसे व्यक्तिगत राजनीतिक रुझानों का मूल्यांकन शामिल है।

## 13.4 जनमत का अर्थ और परिभाषा:

जनमत एक अवधारणा है जिसमें विद्वानों के बीच एक एकल परिभाषा का अभाव है, क्योंकि यह किसी के दृष्टिकोण के आधार पर भिन्न होता है कि कौन "जनता" का गठन करता है और किसकी राय सबसे अधिक महत्व रखती है - व्यक्ति, समूह या अभिजात वर्ग।

सबसे सरल रूप में, जनता में ऐसे व्यक्ति शामिल होते हैं जो सरकार और समाज से जुड़े होते हैं और उन विशिष्ट मुद्दों का सामना करते हैं जो सार्वजनिक नीतियों का आधार बनते हैं। हालाँकि, इन मुद्दों पर हर किसी का जुड़ाव समान स्तर का नहीं है। कुछ लोग चौकस जनता से संबंधित हैं, जो सक्रिय रूप से सरकार और राजनीति पर नज़र रखते हैं, जबकि अन्य मुद्दे वाली जनता के सदस्य हैं, जो विशिष्ट नीतिगत बहसों पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो व्यक्तिगत रूप से उनके साथ प्रतिध्वनित होती हैं। उदाहरण के लिए, स्वास्थ्य देखभाल सुधार की वकालत करने वाले किसी व्यक्ति का कोई प्रियजन किसी चिकित्सा समस्या से जूझ रहा हो सकता है। इसके विपरीत, कुछ व्यक्ति राजनीति में बहुत कम रुचि दिखाते हैं और उनकी चिंताओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है।

एक राय रुख को संदर्भित करती है - अनुकूल, प्रतिकूल, तटस्थ, या अनिर्णीत - जो व्यक्ति किसी विशेष मुद्दे, नीति, कार्रवाई या नेता के संबंध में अपनाते हैं। राय वस्तुनिष्ठ तथ्यों के बजाय भावनाओं की व्यक्तिपरक अभिव्यक्ति हैं। सर्वेक्षणकर्ता अक्सर उत्तरदाताओं पर इस बात पर जोर देते हैं कि कोई सही या गलत उत्तर नहीं है, जो व्यक्तिगत विचारों के महत्व को रेखांकित करता है। राय दृष्टिकोण से प्रभावित होती है, जो लोगों, समूहों या संस्थानों के प्रति लगातार झुकाव है। उदाहरण के लिए, नस्लीय समानता में दृढ़ विश्वास रखने वाले लोग आवास और रोजगार में भेदभाव से निपटने के उद्देश्य से नीतियों का समर्थन करने की संभावना रखते हैं।

### जनमत निर्माण को समझना

भारतीय अपनी राजनीतिक राय कहाँ बनाते हैं, और इन विचारों को क्या प्रभावित करता है? स्व हित राजनीतिक दृष्टिकोण को कैसे आकार देता है? भारत में राजनीतिक समाजीकरण के प्रमुख स्रोत क्या हैं और वे अलग-अलग राय में कैसे योगदान करते हैं?

भारत में राजनीतिक राय विभिन्न स्रोतों से आती है, जिनमें आर्थिक चिंताओं में निहित स्व-हित और व्यक्तियों की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक स्थिति और व्यक्तिगत विशेषताओं से संबंधित कानून शामिल हैं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण भारत में एक किसान कृषि से संबंधित नीतियों को प्राथमिकता दे सकता है, जबकि शहरी क्षेत्र का निवासी बुनियादी ढांचे के विकास पर ध्यान केंद्रित कर सकता है। भारतीय समाज में गहराई से अंतर्निहित मूल्य भी राजनीतिक दृष्टिकोण को आकार देने, स्थापित सामुदायिक मानदंडों और सांस्कृतिक मान्यताओं को प्रतिबिंबित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। धर्म, जाति और क्षेत्रीय संबद्धता जैसी पहचानें भी राजनीतिक प्राथमिकताओं को प्रभावित करती हैं, हितों और मूल्यों से परे मौलिक मनोवैज्ञानिक जुड़ाव का दोहन करती हैं।

सामाजिक समूह, दोनों अनैच्छिक (जैसे जाति और धर्म) और स्वैच्छिक (जैसे राजनीतिक दल और शैक्षिक समूह), भारत में राजनीतिक राय भी बनाते हैं। उदाहरण के लिए, आरक्षण नीतियों जैसे मुद्दों पर राय जाति संबद्धता के आधार पर भिन्न हो सकती है।

## 13.5 जनमत: विकास और प्रभाव

जनमत से तात्पर्य किसी विशिष्ट विषय या मुद्दे के संबंध में आबादी के एक महत्वपूर्ण हिस्से द्वारा रखे गए समग्र दृष्टिकोण या विश्वास से है। इस अवधारणा को अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिक वी.ओ. की के काम के माध्यम से राजनीति में प्रमुखता मिली। 1961 में की, जिन्होंने इसे उन विचारों के रूप में परिभाषित करके इसके महत्व पर प्रकाश डाला जिन पर सरकारें विचार करना महत्वपूर्ण समझती हैं। समय के साथ, सांख्यिकीय और जनसांख्यिकीय विश्लेषण में प्रगति, विशेष रूप से 1990 के दशक में कंप्यूटर प्रौद्योगिकी की सहायता से, जनता की राय को और अधिक सूक्ष्मता से समझने की अनुमति मिली। यह स्पष्ट हो गया कि जनता की राय पूरी आबादी के लिए एक समान नहीं है, लेकिन विभिन्न जनसांख्यिकीय या जातीय समूहों के बीच भिन्न हो सकती है।

यद्यपि यह अक्सर राजनीतिक निर्णयों और चुनावों पर इसके प्रभाव से जुड़ा होता है, जनता की राय फैशन, लोकप्रिय संस्कृति, कला, विज्ञापन और उपभोक्ता व्यवहार जैसे कई अन्य क्षेत्रों तक अपना प्रभाव बढ़ाती है। संक्षेप में, यह केवल राजनीतिक क्षेत्रों से परे सामाजिक रुझानों और प्राथमिकताओं को आकार देता है, समाज के विभिन्न पहलुओं की दिशा को आकार देने और व्यक्तियों और संस्थानों द्वारा लिए गए निर्णयों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

### जनमत का विकास: प्राचीन काल से आधुनिक सिद्धांतों तक

हालाँकि "जनमत" शब्द 18वीं शताब्दी तक सामने नहीं आया था, लेकिन इसके प्रभाव की गूँज प्राचीन इतिहास में देखी जा सकती है। प्राचीन बेबीलोनिया और असीरिया जैसे समाजों में, लोकप्रिय दृष्टिकोण का प्रभाव स्पष्ट था, प्राचीन इज़राइल और सामरिया जैसे स्थानों में नेता सक्रिय रूप से सार्वजनिक भावनाओं को आकार देने की कोशिश कर रहे थे।

मध्य युग के दौरान, जब अधिकांश लोग महामारी और अकाल के बीच जीवित रहने में व्यस्त थे, तब भी जनमत जैसे तत्व मौजूद थे। 1191 में, अंग्रेजी राजनेता विलियम लॉन्गचैम्प, जो एली के बिशप का पद भी संभाल चुके थे, को अपने राजनीतिक विरोधियों की आलोचना का सामना करना पड़ा। उन्होंने उन पर अपनी क्षमताओं का गुणगान करने के लिए योद्धागायक का इस हद तक इस्तेमाल करने का आरोप लगाया कि जनता उन्हें अद्वितीय मानने लगी। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए गायकों को नियुक्त करने की इस रणनीति के कारण लोगों के बीच व्यापक बातचीत हुई, जिससे लॉन्गचैम्प की स्थिति बेजोड़ स्तर तक बढ़ गई।

पुनर्जागरण की शुरुआत तक, आबादी के बीच बढ़ती शिक्षा के साथ-साथ सार्वजनिक मामलों में बढ़ती रुचि उभरी। इटली में, मानवतावाद के उदय ने ऐसे लेखकों के उद्भव को बढ़ावा दिया जिन्होंने शासकों की महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अपनी प्रतिभा का इस्तेमाल किया। निकोलो मैकियावेली जैसे राजनीतिक विचारकों ने नेताओं के लोकप्रिय भावनाओं को समझने और प्रतिक्रिया देने के महत्व पर जोर दिया।

17वीं और 18वीं शताब्दी में सूचना प्रसारित करने के अधिक परिष्कृत साधनों की शुरुआत हुई, विशेष रूप से समाचार पत्रों के आगमन के साथ। जनमत की शक्ति अमेरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों जैसी घटनाओं में स्पष्ट रूप से स्पष्ट हो गई, जहां लोगों की सामूहिक इच्छा ने राजशाही जैसी मजबूत संस्थाओं को चुनौती दी। जैसे ही 19वीं शताब्दी में सामाजिक सिद्धांत विकसित हुए, कुछ विद्वानों ने तर्क दिया कि जनता की राय मुख्य रूप से अभिजात वर्ग के विचारों को प्रतिबिंबित करती है। यह दृष्टिकोण "सार्वजनिक शोर" की धारणा के विपरीत है, जो भावुक लेकिन बेख़बर भावनाओं की विशेषता है।

20वीं सदी में, जॉर्ज विल्हेम फ्रेडरिक हेगेल जैसे विद्वानों ने जनता की राय की जटिलताओं पर विचार किया, और इसके सत्य और झूठ के मिश्रण को पहचाना। शेरी डेवेरेक्स फर्ग्यूसन ने 20वीं सदी के सिद्धांतों को तीन व्यापक चरणों में वर्गीकृत किया: लोकलुभावन (Populist), जो जनता की राय को नेताओं और लोगों के बीच संचार के एक चैनल के रूप में देखता है; अभिजात्य वर्ग (Elitist), जो शक्तिशाली गुटों द्वारा जनमत की हेरफेर और व्याख्या को रेखांकित करता है; और आलोचनात्मक (Critical), जो बताता है कि जनमत को अक्सर सत्ता में बैठे लोगों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, संभवतः अल्पसंख्यक आवाज़ों को छोड़कर।

संक्षेप में, जनमत का अध्ययन अपनी प्राचीन जड़ों से विकसित होकर आधुनिक समाज में इसकी जटिलताओं और निहितार्थों से जूझने वाले परिष्कृत सिद्धांतों को शामिल करता है।

## 13.6 राजनीति में जनमत की भूमिका

किसी भी लोकतांत्रिक समाज में नागरिकों का विभिन्न मुद्दों पर राय बनाना मौलिक है। अनिवार्य रूप से, कोई भी चीज़ जिसके लिए सरकारी नीति निर्माताओं से निर्णय की आवश्यकता होती है - चाहे वह कार्यकारी या विधायी स्तर पर हो - जनता की राय का विषय बन सकती है। राजनीति के क्षेत्र में, पक्षपाती मीडिया आउटलेट, जमीनी स्तर के आंदोलन या यहां तक कि सरकारी संस्थाएं जैसे बाहरी कारक जनता की राय को प्रभावित या सुदृढ़ कर सकते हैं। एक दार्शनिक और अर्थशास्त्री **जेरेमी बेंथम** ने टिप्पणी की थी कि कानून निर्माताओं के लिए सबसे कठिन कार्यों में से एक है जनता की राय को अपने जनादेश के साथ जोड़ना और जरूरत पड़ने पर इसे सही करना।

राजशाही से लोकतंत्र में परिवर्तन के दौरान भी, जनमत की शक्ति के बारे में चिंताएँ व्यक्त की गईं। अपने 1835 के काम, **"अमेरिका में लोकतंत्र"** में, **एलेक्सिस डी टोकेविले** ने जनता द्वारा अत्यधिक प्रभावित सरकार के जोखिमों

के बारे में चेतावनी दी, जिसे उन्होंने "बहुमत का अत्याचार" कहा। इसी तरह, 1957 में, सीनेटर **जॉन एफ कैनेडी** ने जनमत के धीमे, स्वार्थी या अदूरदर्शी होने के खतरों पर प्रकाश डाला। फिर भी, उन्होंने जनता की राय पर विचार करने के महत्व पर जोर दिया, खासकर महत्वपूर्ण निर्णय लेने में जिन्हें व्यापक समर्थन की आवश्यकता होती है।

राजनीतिक वैज्ञानिकों ने देखा है कि विशिष्ट नीति विवरणों को निर्देशित करने के बजाय, जनता की राय आम तौर पर उन मापदंडों को निर्धारित करती है जिनके भीतर नीति निर्माता काम करते हैं। नतीजतन, निर्वाचित अधिकारी अक्सर अलोकप्रिय निर्णयों से बचते हुए जनता की मांगों को पूरा करने का लक्ष्य रखते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में, 1964 के नागरिक अधिकार अधिनियम और 1965 के मतदान अधिकार अधिनियम जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक सुधार व्यापक जनमत से काफी प्रभावित थे।

राजनीति विज्ञान के प्रोफेसर रॉबर्ट वाई. शापिरो ने अपनी पुस्तक "पॉलिटिशियंस डोंट पैंडर" में तर्क दिया है कि राजनेता अक्सर अपने मतदाताओं की इच्छाओं के साथ जुड़ने के बजाय पूर्व निर्धारित कार्यों को बढ़ावा देने के लिए जनमत अनुसंधान में हेरफेर करते हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र के विपरीत, प्रतिनिधि लोकतंत्र, विशिष्ट सरकारी निर्णयों पर जनता की राय के प्रभाव को रोकता है, क्योंकि जनता की पसंद आम तौर पर निर्वाचित अधिकारियों को मंजूरी देने या अस्वीकार करने तक ही सीमित होती है।

स्थानीय स्तर पर, राज्य या राष्ट्रीय स्तर की तुलना में सरकारी नीति में जनता की राय अधिक महत्व रखती है। इसका आंशिक कारण यह है कि बुनियादी ढांचे, शिक्षा और स्वास्थ्य देखभाल जैसे स्थानीय मुद्दे कम जटिल हैं, और मतदाताओं और स्थानीय नेताओं के बीच अक्सर नौकरशाही कम होती है। इसलिए, स्थानीय स्तर पर नीतिगत निर्णयों को आकार देने पर जनता की राय का अधिक सीधा प्रभाव पड़ता है।

## 13.7 जनमत और सरकार :

एक लोकतांत्रिक समाज में, शासन और नीतिगत निर्णयों को आकार देने में जनता की राय महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। नागरिकों को नियमित रूप से चुनाव, जनमत संग्रह और भागीदारी के अन्य तरीकों के माध्यम से अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा जाता है। सरकार और जनता के बीच यह गतिशील संवाद लोकतंत्र के कामकाज का अभिन्न अंग है।

जेरेमी बेंथम, एक अंग्रेजी दार्शनिक और अर्थशास्त्री, ने जनमत के प्रबंधन में विधायकों के लिए चुनौती को पहचाना, सरकारी आदेशों के अनुपालन को सुनिश्चित करने के लिए इसे समझने और प्रभावित करने की आवश्यकता पर जोर दिया। जबकि कुछ शुरुआती विद्वानों ने जनमत के संभावित खतरों, विशेष रूप से बहुसंख्यक अत्याचार के जोखिम के बारे में चिंता व्यक्त की, यह व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है कि राजनेताओं के लिए सार्वजनिक भावनाओं की अनदेखी करना एक व्यवहार्य विकल्प नहीं है।

राजनीतिक वैज्ञानिकों ने लोकतांत्रिक शासन में जनमत की भूमिका का विश्लेषण किया है और पाया है कि हालांकि यह सरकारी नीतियों की विशिष्टताओं को निर्धारित नहीं कर सकता है, लेकिन यह सीमाएं स्थापित करता है जिसके भीतर नीति निर्माताओं को काम करना चाहिए। सार्वजनिक अधिकारियों का लक्ष्य आम तौर पर व्यापक सार्वजनिक मांगों को संबोधित करना या उन पर कम से कम विचार करना होता है, जबकि वे उन निर्णयों से बचते हैं जिनके बारे में उनका मानना है कि वे मोटे तौर पर अलोकप्रिय होंगे।

हालाँकि, जनता की राय और सरकारी कार्यों के बीच संबंध जटिल है। आलोचक अक्सर राजनेताओं पर जनता की भावनाओं को बढ़ावा देने या अपने फायदे के लिए उसमें हेरफेर करने का आरोप लगाते हैं। फिर भी, शोध से पता चलता है कि राजनेता अपनी नीतियों को केवल जनता की राय पर आधारित नहीं कर सकते हैं, वे रणनीतिक तरीकों से इसका जवाब देते हैं, अक्सर अपने एजेंडे को वास्तविक रूप देने के बजाय अपने संदेश को परिष्कृत करने के लिए सार्वजनिक राय अनुसंधान का उपयोग करते हैं।

इसके अलावा, जनता की राय का प्रभाव हमेशा तत्काल या स्पष्ट नहीं होता है। अव्यक्त जनमत - वर्तमान सरकारी कार्यों के प्रति जनता की संभावित भविष्य की प्रतिक्रिया - राजनीतिक परिणामों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। जो नेता गुप्त जनमत की उपेक्षा करते हैं, वे चुनावी परिणामों का जोखिम उठाते हैं, जबकि जो लोग इस पर विचार करते हैं, वे दीर्घकालिक लाभ की उम्मीद के साथ अलोकप्रिय कार्य करने के इच्छुक हो सकते हैं।

स्थानीय स्तर पर, सरकार के उच्च स्तर की तुलना में नीतिगत निर्णयों पर जनता की राय का अधिक प्रत्यक्ष और शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। यह आंशिक रूप से इसलिए है क्योंकि स्थानीय मुद्दे अक्सर अधिक मूर्त और कम नौकरशाही रूप से जटिल होते हैं, और इसलिए भी क्योंकि नीति निर्माताओं और मतदाताओं के बीच कम बाधाएं होती हैं।

संक्षेप में, जनता की राय लोकतांत्रिक शासन में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में कार्य करती है, नीतिगत निर्णयों के लिए मानदंड निर्धारित करती है और सरकार के विभिन्न स्तरों पर राजनीतिक परिणामों को प्रभावित करती है। हालाँकि इसके प्रभाव को सूक्ष्मता से देखा जा सकता है और कभी-कभी इसका विरोध भी किया जा सकता है, फिर भी यह लोकतांत्रिक प्रक्रिया का एक अनिवार्य पहलू बना हुआ है।

## 13.8 विश्व जनमत:

जैसे-जैसे 20वीं शताब्दी समाप्त होने लगी, वैश्विक संचार, व्यापार और परिवहन में प्रगति ने एक नवीन अवधारणा के बारे में चर्चा को प्रेरित किया: विश्व जनमत, या "विश्व जनमत।" इस विचार ने उन विद्वानों के बीच लोकप्रियता हासिल की जिन्होंने वैश्विक परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण और उपभोक्ता व्यवहार में समानताएं देखीं।

एक अमेरिकी राजनीतिक वैज्ञानिक, फ्रैंक रुसियानो ने विश्व राय को वैश्विक पर्यवेक्षकों के नैतिक निर्णय के रूप में परिभाषित किया है, जिस पर राष्ट्रों को विचार करना चाहिए, ताकि उन्हें अंतरराष्ट्रीय अलगाव का सामना न करना पड़े। उन्होंने सुझाव दिया कि विश्व की राय तब उभरती है जब प्रमुख मुद्दों, समय के साथ उनके सापेक्ष महत्व और जिस अवधि के दौरान वे महत्वपूर्ण होते हैं, उसके बारे में दुनिया भर के जानकार व्यक्तियों के बीच व्यापक सहमति होती है। रूसियानो ने इस बात पर जोर दिया कि विश्व जनमत में किसी देश की प्रतिष्ठा महत्वपूर्ण है, जर्मनी के पुनर्मिलन के बाद और शीत युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उदाहरणों का हवाला देते हुए, जहां राष्ट्रों ने अपनी स्थिति को बनाए रखने या बढ़ाने के लिए अपने कार्यों को समायोजित किया।

हालाँकि, कुछ विद्वान विश्व जनमत की अवधारणा की आलोचना करते हैं, इसकी पद्धतिगत वैधता पर सवाल उठाते हैं। वे इस बात पर चिंता जताते हैं कि गरीब या सत्तावादी राज्यों सहित विविध आबादी के विचारों का सटीक प्रतिनिधित्व और तुलना कैसे की जा सकती है। पद्धतिगत चुनौतियाँ बहुत अधिक हैं, विशेष रूप से सभी देशों में मानकीकृत मतदान की अनुपस्थिति को देखते हुए। इसके अतिरिक्त, मतदान अक्सर शहरी अभिजात वर्ग की राय को दर्शाता है, ग्रामीण आबादी की उपेक्षा करता है और प्रतिनिधित्व को कम करता है।

इन चुनौतियों के बावजूद, रुसियानो ने प्रथम फारस की खाड़ी युद्ध जैसी घटनाओं की ओर इशारा किया, जहां विश्व जनमत ने परिणामों को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कुवैत की रक्षा के लिए व्यापक समर्थन ने इराक को अलग-थलग कर दिया और अमेरिकी नेतृत्व वाले गठबंधन की त्वरित जीत में मदद की। बहरहाल, रुसियानो ने स्वीकार किया कि रणनीतिक हितों और राजनयिक विचारों जैसे अन्य कारकों के साथ-साथ विश्व राय विदेश नीति निर्णयों को प्रभावित करने वाला सिर्फ एक कारक है।

संक्षेप में, जबकि विश्व राय अंतरराष्ट्रीय कार्यों और धारणाओं को आकार देने के अवसर प्रस्तुत करती है, इसकी जटिलताएं और सीमाएं बताती हैं कि इसे वैश्विक मामलों में एकमात्र निर्धारक के बजाय एक योगदान कारक के रूप में देखा जाना चाहिए।

## 13.9 जनमत को आकार देने वाले प्रभावशाली कारक

जनमत आंतरिक और बाह्य दोनों तरह के विभिन्न प्रभावों का एक जटिल परस्पर क्रिया है, जिससे किसी भी मुद्दे पर इसके प्रक्षेपवक्र की भविष्यवाणी करना चुनौतीपूर्ण हो जाता है। हालाँकि कुछ राय सीधे तौर पर युद्ध या आर्थिक मंदी जैसी विशिष्ट घटनाओं से जुड़ी हुई लग सकती हैं, अन्य कम स्पष्ट कारकों से आकार लेती हैं।

### सामाजिक वातावरण

सामाजिक वातावरण व्यक्तिगत राय पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है, जिसमें परिवार, दोस्त, कार्यस्थल की गतिशीलता, धार्मिक जुड़ाव और शैक्षिक सेटिंग्स जैसे कारक शामिल होते हैं। शोध से संकेत मिलता है कि लोग अक्सर अपने

सामाजिक दायरे में प्रचलित दृष्टिकोण और मान्यताओं को अपनाते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति जो उदारवादी के रूप में पहचान रखता है लेकिन रूढ़िवादी प्रभावों से घिरा हुआ है, वह धीरे-धीरे रूढ़िवादी विचारों की ओर झुक सकता है, यहां तक कि अपनी मतदान प्राथमिकताओं को भी तदनुसार बदल सकता है।

**मीडिया**

मीडिया मौजूदा सार्वजनिक भावनाओं के एक शक्तिशाली प्रवर्धक के रूप में कार्य करता है। समाचार पत्रों, टेलीविजन, रेडियो, ऑनलाइन समाचार आउटलेट और सोशल मीडिया प्लेटफार्मों के माध्यम से, मीडिया प्रचलित विचारों को सुदृढ़ करता है। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में, तेजी से पक्षपातपूर्ण समाचार कवरेज दर्शकों के विशिष्ट वैचारिक वर्गों को पूरा करता है, जो उनके पहले से मौजूद राजनीतिक झुकाव को मजबूत करता है। इसके अलावा, मीडिया कवरेज पहले से अनिर्णीत मतदाताओं या किसी विशेष उम्मीदवार की ओर झुकाव रखने वाले मतदाताओं को एकजुट कर सकता है, जिससे उनके मतदान व्यवहार पर असर पड़ सकता है। हालाँकि, इसका एक नकारात्मक पक्ष भी है, जैसा कि सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म के माध्यम से गलत सूचना के प्रसार में देखा गया है।

**हित समूह**

हित समूह सक्रिय रूप से अपने एजेंडे से संबंधित मुद्दों पर जनता की राय बनाने की कोशिश करते हैं। ये समूह, चाहे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक या सामाजिक मुद्दों पर केंद्रित हों, जनता की भावनाओं को प्रभावित करने के लिए मास मीडिया, सोशल मीडिया और वर्ड-ऑफ-माउथ जैसे विभिन्न चैनलों का उपयोग करते हैं। कुछ अच्छी तरह से वित्त पोषित हित समूह अपने उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए विज्ञापन और जनसंपर्क फर्मों को भी नियुक्त करते हैं। विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि हित समूहों द्वारा अपने मुद्दों के लिए समर्थन के स्तर को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने के लिए सोशल मीडिया "स्ट्रॉ-पोल" का लाभ उठाया जाता है, और इस प्रकार सार्वजनिक धारणा में हेरफेर किया जाता है।

कुल मिलाकर, जनमत एक गतिशील घटना है, जो कई प्रभावों से आकार लेती है, जिसमें सामाजिक संपर्क, मीडिया कथाएँ और हित समूहों के ठोस प्रयास शामिल हैं, जो किसी दिए गए मुद्दे पर समाज की सामूहिक मानसिकता में योगदान करते हैं।

## 13.10 जनता की राय को आकार देने वाली प्रभावशाली हस्तियाँ और घटनाएँ

जनमत नेता, अक्सर सार्वजनिक जीवन में प्रमुख व्यक्ति, जनता की भावनाओं पर काफी प्रभाव डालते हैं। राजनीतिक नेता, विशेष रूप से, मीडिया चैनलों के माध्यम से कम-ज्ञात मुद्दों पर ध्यान आकर्षित करके उन्हें राष्ट्रीय सुर्खियों में लाने की शक्ति रखते हैं। इन जनमत नेताओं द्वारा गढ़े गए यादगार नारे विभिन्न मुद्दों पर सार्वजनिक सहमति जुटा सकते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम विश्व युद्ध के दौरान वुडरो विल्सन की घोषणा कि मित्र राष्ट्रों का लक्ष्य "दुनिया को

लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाना" था, व्यापक रूप से गूंज उठा, जबकि डोनाल्ड ट्रम्प के "मेक अमेरिका ग्रेट अगेन" नारे ने 2016 के राष्ट्रपति अभियान के दौरान उनके समर्थकों को उत्साहित किया।

इसी तरह भारतीय सन्दर्भ में भारतीय नेताओं द्वारा गढ़े गए यादगार नारे विभिन्न मुद्दों पर सार्वजनिक सहमति पैदा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, लाल बहादुर शास्त्री द्वारा गढ़े गए "जय जवान, जय किसान" और इंदिरा गांधी द्वारा "गरीबी हटाओ" जैसे नारे व्यापक रूप से गूंजे, जिन्होंने राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर सार्वजनिक चर्चा को आकार दिया।

प्राकृतिक आपदाएँ या त्रासदियाँ जैसी घटनाएँ भी भारत में जनमत को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। भोपाल गैस त्रासदी, 2001 का गुजरात भूकंप और 2018 की केरल बाढ़ जैसी घटनाओं ने सुरक्षा और आपदा प्रबंधन के लिए सार्वजनिक जागरूकता और चिंता को बढ़ा दिया है।

इसी प्रकार, बाबरी मस्जिद विध्वंस और 2002 के गुजरात दंगों जैसी घटनाओं ने सांप्रदायिक संबंधों और धार्मिक भावनाओं पर गहरा प्रभाव डाला है, जिससे सांप्रदायिक सद्भाव और धार्मिक सहिष्णुता के प्रति जनता का रुख प्रभावित हुआ है।

फिर भी, जनता की राय में कुछ बदलावों की व्याख्या करना अधिक कठिन है। 1960 के दशक के बाद से, लिंग और लिंग, धर्म, परिवार की गतिशीलता, नस्ल संबंध, सामाजिक कल्याण, आय असमानता और अर्थव्यवस्था के प्रति दृष्टिकोण में विश्व स्तर पर महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। हालाँकि, इन बदलावों के लिए सटीक उत्प्रेरक को इंगित करना चुनौतीपूर्ण है, क्योंकि वे अक्सर विशिष्ट घटनाओं या समूहों के बजाय जटिल सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप होते हैं।

**अभ्यास प्रश्न:**

1. जनमत को आकार देने में कौन सा कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है?

अ) सरकारी नीतियां ब) मीडिया का प्रभाव स) व्यक्तिगत मान्यताएँ द) आर्थिक कारक

2. जनमत सर्वेक्षण के साथ आम तौर पर कौन सी चुनौती जुड़ी होती है?

अ) पक्षपातपूर्ण नमूनाकरण ब) प्रतिक्रिया दर का अभाव स) सीमित डेटा व्याख्या द) नैतिक चिंताएँ

## 13.11 सारांश:

निष्कर्षतः, जनमत लोकतांत्रिक समाजों की आधारशिला के रूप में खड़ा है, नीतियों को आकार देता है, निर्णय लेने की प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है और नेताओं को जवाबदेह बनाता है। इसकी गतिशील प्रकृति विविध आबादी के उभरते दृष्टिकोण और दृष्टिकोण को दर्शाती है, जो मीडिया, व्यक्तिगत अनुभव और सामाजिक संपर्क जैसे असंख्य

कारकों से प्रभावित होती है। हालाँकि सार्वजनिक भावनाओं को सटीक रूप से मापने और व्याख्या करने में चुनौतियाँ मौजूद हैं, लेकिन शासन और सामाजिक विमर्श पर इसके प्रभाव को कम करके नहीं आंका जा सकता है। चूँकि वैश्वीकरण संचार और सूचना प्रसार को नया आकार दे रहा है, इसलिए आधुनिक युग में समावेशी और प्रभावी शासन को बढ़ावा देने के लिए जनमत को समझना और उस पर प्रतिक्रिया देना सर्वोपरि है।

## 13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर:

1. ब 2. अ

## 13.13 शब्दावली:

1. राजनीतिक दृष्टिकोण: राजनीतिक मामलों, पार्टियों, उम्मीदवारों और विचारधाराओं के प्रति व्यक्तियों की राय और प्राथमिकताएँ।
2. अभिजात वर्ग की राय: समाज के भीतर प्रभावशाली व्यक्तियों या समूहों के दृष्टिकोण और दृष्टिकोण।
3. जनमत निर्माण: वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न कारकों से प्रभावित होकर अपने दृष्टिकोण और विश्वास विकसित करते हैं।

## 13.14 सन्दर्भ सूची:


- Key, V. O. *"Public Opinion and American Democracy."* Alfred A Knopf, Inc., 1961, ASIN: B0007GQCFE.
- Mackinnon, William Alexander (1849). *"History of Civilisation and Public Opinion."* HardPress Publishing, 2021, ISBN-10: 1290718431.
- Hegel, Georg Wilhelm Friedrich (1945). *"The Philosophy of Right."* Dover Publications, 2005, ISBN-10: 0486445631.
- Bryce, James (1888), *"The American Commonwealth."* Liberty Fund, 1995, ISBN-10: 086597117X.
- Ferguson, Sherry Devereaux.*"Researching the Public Opinion Environment: Theories and Methods."* SAGE Publications, May 11, 2000, ISBN-10: 0761915311.

- Bentham, Jeremy. *"Political Tactics (The Collected Works of Jeremy Bentham)."* Clarendon Press, 1999, ISBN-10: 0198207727.
- de Tocqueville, Alexis (1835). *"Democracy in America."* University of Chicago Press, April 1, 2002, ISBN-10: 0226805360


## 13.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. जनमत को आकार देने में मीडिया की भूमिका पर चर्चा करें।
2. जनमत और सरकार की जवाबदेही के बीच संबंध का विश्लेषण करें।
3. जनमत को आकार देने में  नेताओं की भूमिका पर चर्चा करें।
4. जनमत पर वैश्वीकरण के प्रभाव का परीक्षण करें।

## इकाई 14: प्रतिनिधित्व- अर्थ, प्रकृति , प्रतिनिधित्व के प्रकार

इकाई संरचना

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 बहुल मतदान
14.4 निर्वाचन की विभिन्न प्रणालियाँ
14.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
14.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
14.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
14.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष
14.9 मतदान की प्रणालियाँ
14.9.1 बहुमत के आधार पर निर्वाचन
14.9.2 द्वितीय मतदान व्यवस्था
14.9.3 वैकल्पिक मतदान व्यवस्था
14.10 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व
14.10.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
14.10.1.1 एकल हस्तान्तरणीय व्यवस्था
14.10.1.2 सूची प्रणाली
14.11 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण
14.12 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के दोष
14.13 संचित मतदान प्रणाली
14.14 सीमित मतदान प्रणाली
14.15 सांम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली
14.16 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व
14.16.1 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के दोष
14.17 आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक शर्तें
14.18 सारांश
14.19 शब्दावली
14.20 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.22 सहायक उपयोगी सामग्री

14.23 निबन्धात्मक प्रश्न

## 14.1 प्रस्तावना

लोकतन्त्र के सफल होने के लिये आदर्श प्रतिनिधित्व बहुत आवश्यक है। यदि प्रतिनिधित्व सही, निष्पक्ष, न्यायपूर्ण नहीं है तो लोकतन्त्र ठीक प्रकार से कार्य नहीं कर सकता। प्राचीन समय में छोटे-छोटे नगर-राज्य थे जिसके कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्भव था। जिसमें प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक समय में बड़े राष्ट्रों के कारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र अव्यावहारिक हो गया। कतिपय यही कारण है कि प्रतिनिधित्यात्मक लोकतन्त्र की आवश्यकता पड़ी।

प्रतिनिधित्यात्मक लोकतन्त्र में प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है। सामान्य गुप्त मतदान से प्रतिनिधियों का निर्वाचन बहुमत के आधार पर होता है। ऐसे में कई बार अल्पंख्यक वर्ग बहुमत पाने में असफल हो उचित प्रतिधित्व पाने से वंचित हो जाता है। इसीलिये राजनीति विज्ञानियों ने प्रतिनिधित्व के अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जिससे समाज के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व हो सके।

अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधित्व के लिये अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें से अनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली, द्वितीय मतपत्र प्रणाली, संचित मत प्रणाली, सूची प्रणाली, वैकल्पिक मत प्रणाली आदि प्रमुख हैं। फ्रांस जैसे देश में राष्ट्रपति के चुनाव में द्वितीय मतपत्र प्रणाली चलन में है। भारत में राष्ट्रपति के चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के एकल संक्रमणीय मत पद्धति प्रचलित है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली कुछ खामियों के बावजूद अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने वाली सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है।

आधुनिक युग लोकतंत्र का युग है। लोकतन्त्र के दो रूप हैं - प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा प्रतिनिधि लोकतन्त्र। कुछ प्राचीन यूनानी नगर राज्यों तथा भारत के कुछ गणतन्त्रों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के कुछ प्रमाण मिलते हैं। आधुनिक समय में बड़ें राज्यों के उदय के साथ प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र संभव नहीं है। आज स्विट्जरलैण्ड के पाँच कैंटनों को छोड़कर प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र कहीं दिखायी नहीं पड़ता। अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र निर्वाचन पर आधारित है। जनता स्वयं शासन का संचालन नहीं करती वरन अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से संचालन का कार्य करती है। प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिये एक निश्चित अवधि के बाद आम निर्वाचन की आवश्यकता पड़ती है। निर्वाचन में भाग लेने तथा मतदान में भाग लेने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। आधुनिक समय में 'व्यस्क मताधिकार' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्गत एक निश्चित उम्र के पुरूष एवं स्त्रियों को शिक्षा, संपत्ति, लिंग जाति के आधार पर बिना किसी भेदभाव के मताधिकार दिया जाता है। तब यह व्यस्क मताधिकार कहलाता है। वयस्क मताधिकार सभी स्त्री पुरूष को प्रदान किया जाता है इसलिये इसे सार्वजनिक मताधिकार भी कहा जाता है। ब्रिटेन, अमेरिका तथा भारत में यह आयु 18 वर्ष, स्विट्जरलैण्ड में 20 वर्ष तय की गई है। महिला मताधिकार को लेकर प्रारम्भ से भेद रहा है। अमेरिका में 1917 में, इंग्लैण्ड में 1928 तथा स्विट्जरलैण्ड में 1971 को स्त्री मताधिकार प्रदान किया गया। राज्य अनिवार्य मतदान की भी व्यवस्था कर सकता है। वैध कारणों से मतदान न करने पर आस्ट्रेलिया सहित कुछ देशों में दंड का प्रावधान है।

## 14.2 उद्देश्य

- प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं प्रकार को समझना।
- प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धान्तों को समझना।
- अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के सिद्धान्तों को समझना।
- आधुनिक समय में दुनिया में प्रयोग में लाये जा रहे प्रतिनिधित्व के सिद्धांतोंको समझना।
- प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त का उदय तथा आधुनिक समय में उसके चलन को समझना।

## 14.3 बहुल मतदान

बहुल मतदान अथवा भारपूर्ण मतदान को भेदपूर्ण मतदान कहते हैं। इसमें मतदान में भेदभाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसमें कुछ नागरिकों को अन्य की तुलना में विभिन्न आधारों पर अधिक मत दिये जाते हैं। जैसे बेल्जियम में 1893 के सविंधान ने 25 वर्ष की आयु से दिया जाता था, परन्तु उसके उपरांत उस व्यक्ति को एक और मत प्रदान किया गया जिसकी एक वैध संतान हो 35 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो तथा राज्य को 5 फ्रैंक कर देता हो। यही अतिरिक्त मत उस भू-स्वामी को दिया गया जो कम से कम 2000 फ्रैंक मूल्य की संपत्ति रखता हो तथा 25 वर्ष से अधिक आयु के ऊपर उस व्यक्ति को दो अतिरिक्त मत प्रदान किये जिसके पास उच्चतर माध्यमिक डिग्री अथवा किसी संस्था से डिप्लोमा हो। 1921 के संशोधन द्वारा इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। 1909 के अधिनियम के अन्तर्गत भारत के मुसलमानों को बहुल मत प्राप्त थे। इसमें सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से एक मत तथा अपने धार्मिक सम्प्रदाय के लिये सुरक्षित निर्वाचन क्षेत्र में एक अन्य मत प्रदान किया गया। 1919 के अधिनियम में साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्र की व्यवस्था ईसाइयों, एंग्लोइंडियन तथा सिक्खों को तथा 1932 के साम्प्रदायिक निर्णय के द्वारा दलित जातियों को भी प्रदान की गई। जे0 एस0 मिल0 ने बहुल मतदान का समर्थन किया। उनका मानना था कि बुद्धिमान लोगों को अधिक मत प्राप्त होने चाहिए। उसका मानना था कि -''उस व्यक्ति को दो या अधिक मतों की उचित अनुमति दी जा सकती हे। जो उच्चतर कार्यों में से कोई कार्य करते हैं। यह न्यूनतम शिक्षित जनसंख्या के भार के प्रतिकारक के रूप में कार्य करता है।

## 14.4 निर्वाचन की विभिन्न प्रणलियाँ

निर्वाचन का सामान्य अर्थ होता है अपनी पसन्द की प्रतिनिधि का चुनाव। निर्वाचन की दो प्रणलियाँ प्रचलित हैं- 1 प्रत्यक्ष निर्वाचन 2 अप्रत्यक्ष निर्वाचन

1.प्रत्यक्ष निर्वाचन:- प्रत्यक्ष निर्वाचन वह है जिसमें मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करे तो उसे प्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। यह आज के समय में लोकप्रिय निर्वाचन व्यवस्था है। इसमें प्रत्येक मतदाता निर्वाचन स्थान पर विभिन्न उम्मीदवारों में से किसी एक के पक्ष में मतदान करता है। सर्वाधिक मत पाने वाला व्यक्ति विजेता

घोषित कर दिया जाता है। आधुनिक समय में दुनिया के अधिकांश देशों जैसे ब्रिटेन, अमेरिका, भारत, कनाडा तथा स्विट्जरलैण्ड के प्रथम सदन के निर्वाचन में इसी पद्धति को स्वीकार किया जाता है।

2.अप्रत्यक्ष निर्वाचनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन के विपरीत जब मतदाता कुछ प्रतिनिधियों का चुनाव करे तथा वे किसी अन्य व्यक्ति का चुनाव करें तो यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन कहा जाता है। जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधि 'निर्वाचक मण्डल' कहे जाते हैं। उदाहरण के लिये अमेरिका के मतदाता उन निर्वाचकों को चुनते हैं जो राष्ट्रपति का चुनाव करते है।

## 14.5 प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

विद्वानों ने प्रत्यक्ष निर्वाचन के कुछ गुण बताये हैं। इनमें से प्रमुख गुण निम्न हैं-

1.राजनीतिक जागृतिः- प्रत्यक्ष निर्वाचन मतदाताओं में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करता है। इसमें मतदाता चुनाव प्रक्रिया के दौरान अनेक रैलियों, सभाओं में भाग लेता है। जिसके द्वारा उसको सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों के विषय में जानकारी होती है। इसके साथ मतदान के तरीके के विषय में भी वह अवगत होता है।

2.मतदाता एवं प्रतिनिधियों के मध्य संबंधः- प्रत्यक्ष निर्वाचन में मतदाता तथा प्रतिनिधियों के बीच घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। इसमें चुनाव लड़ रहे लोगों का भविष्य मतदाता तय करते हैं। अतः प्रत्येक चुनाव लड़ने वाला व्यक्ति अधिकाधिक व्यक्तियों से मिलता है। वह जनसंपर्क अभियान चलाता है। यह चुनाव दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध विकसित करने में सहायक होता है।

3.उत्तरदायित्व की भावनाः- प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था में जनता स्वयं निर्वाचन प्रक्रिया में भाग लेती है। वह दल विशेष, प्रत्याशी विशेष के लिये सक्रिय होती है। अतः प्रतिनिधि चुनाव के बाद अपने मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी रहते हैं। उन्हें पता होता है कि मतदाता ने ही उन्हें 'फर्श से अर्श' तक का सफर कराया है। अतः वे मतदाताओं अथवा जनमत को सदैव अपने पक्ष में रखने का प्रयास करते हैं।

4.प्रजातान्त्रिक भावना के अनुकूलः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण है। यह प्रजातन्त्र की भावना के पूर्णतः अनुकूल है। जनता सीधे तौर पर निर्वाचन में भाग लेती है। जिससे उसकी भावना तुष्ट होती है।

## 14.6 प्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष

प्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख दोष इस प्रकार हैः-

1.खर्चीला शासनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का यह प्रमुख दोष है। इसमें निर्वाचन प्रक्रिया के दौरान चुनाव लड़ रहे लोग चुनाव जीतने के लिये अधिकाधिक धन व्यय करते हैं। यह प्रक्रिया चुनाव को अधिक खर्चीला बना देती है। इसका परिणाम यह होता है कि योग्य परन्तु धन-बल में कमजोर व्यक्ति चुनाव नहीं लड़ पाता है। आज के भारत, अमेरिका जैसे देशों में यह दोष प्रमुखता से देखा जा रहा है।

2.अयोग्या व्यक्तियों की भूमिकाः- प्रत्यक्ष निर्वाचन का यह महत्वपूर्ण दोष है। इसमें चुनाव बहुमत से होता है और सार्वभौम वयस्क मताधिकार के दौर में सभी अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। ऐसे में अशिक्षित, अक्षम लोग भी भावनाओं में बहकर जाति, धर्म, भाषा तथा संकीर्ण स्वार्थों के लिये मतदान करते हैं। कई बार इसके परिणामस्वरूप अयोग्य व्यक्ति चुनाव जीतने में सफल हो जाते हैं। जोकि लोकतन्त्र के लिये बड़ा खतरा है।

3.कुशल एवं योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं- प्रत्यक्ष निर्वाचन में धनबल एवं बाहुबल का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि सामान्य व्यक्ति चुनाव में भाग लेने, जनप्रतिनिधि बनने से दूर भागता है। यदि कोई प्रयास करता है तो धनबल एवं बाहुबल के सामने ठहर नहीं पाता है। यही कारण है कि इसमें योग्य एवं कुशल व्यक्तियों का निर्वाचन नहीं हो पाता है।

4.सार्वजनिक शिक्षा नहीं- चुनाव प्रक्रिया का विश्लेषण करने का यह तथ्य भी सामने आता है कि व्यक्ति को भ्रामक प्रचार से भ्रमित कर दिया जाता है। सामान्यजनों के सामने गलत तथ्य एंव भ्रामक विश्लेषण प्रस्तुत किये जाते हैं। जिससे जनमत ही गलत बन जाता है।

## 14.7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख गुण इस प्रकार है-

1.योग्य व्यक्तियों का निर्वाचन:- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं करती बल्कि एक निर्वाचक मण्डल चुनाव करता है। यह ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो तर्कपूर्ण, विवेकपूर्ण निर्णय करते हैं। उनके निर्णय के परिणामस्वरूप सही एवं योग्य व्यक्तियों का चुनाव होता है। यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक प्रमुख गुण है।

2.कम खर्चीला निर्वाचनः- कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें मतदान का अधिकार सभी के पास नहीं होता जिसके कारण चुनाव का क्षेत्र व्यापक नहीं हो पाता। कतिपय यही कारण है कि चुनाव में खर्च भी कम होता है। कम खर्चीला होना इसका प्रमुख गुण है। इसके कारण सामान्य व्यक्ति भी चुनाव में सहभागिता कर सकता है।

3.अशिक्षित जनता वाले निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगीः- विद्वानों का यह मत है कि उन लोकतन्त्रों में जहाँ शिक्षा का स्तर नीचे है, जनता को स्वशासन का अनुभव नहीं है। वहाँ जनता गलत चुनाव भी कर सकती है अतः यह अशिक्षित निर्वाचन क्षेत्रों वाले राज्यों के लिये उपयुक्त है।

4.बड़े निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगीः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को बड़े राज्यों के लिये बहुत अनुकूल माना जाता है। इसमें आम निर्वाचन में होने वाली समय एवं धन के व्यय से मुक्ति मिलती है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन से बड़े से बड़ा निर्वाचन सहजता से सम्पन्न हो जाता है।

5.दलगत बुराइयों से दूरः- इस चुनाव में जनता एक बार निर्वाचक मंडल का चुनाव कर लेते है और बाद में निर्वाचक मंडल अपने प्रतिनिधियों का । इस पूरी प्रक्रिया में प्रत्यक्ष निर्वाचन की तरह दलगत स्वार्थ नहीं दिखायी पड़ता है।

6.नवजात लोकतन्त्र के लिये अनुकूलः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन को नवोदित लोकतन्त्र के लिये उपयुक्त माना जाता है। इनकी मान्यता है कि जिन समाजों में राजनीतिक शिक्षा, चेतना, स्वशासन का अभाव एवं आर्थिक विषमता है वहाँ के लिये यह उपयुक्त है इससे वहाँ पर भावना प्रधान निर्णय नहीं होते।

## 14.8 अप्रत्यक्ष निर्वाचन के दोष

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख दोष निम्न है

1.यह व्यवस्था अप्रजातान्त्रिक हैः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन के आलोचक इस पर प्रहार करते हुए कहते है कि यह प्रजातान्त्रिक भावना के अनुकूल नहीं है, जनता सीधे अपने प्रतिनिधियों से नहीं जुड़ती है। वह उनको चुनने के लिये राजनीतिक अधिकार से वंचित रहती है। यह इसका प्रमुख दोष है।

2.सामान्य जन की उदासीनताः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में सामान्य नागरिक सीधे निर्वाचन से नहीं जुड़ा रहता है। यही कारण है कि वह पूरी राजनीतिक प्रक्रिया के प्रति उदासीन रहता है। यह उदासीनता लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के लिये शुभ संकेत नहीं है। लोकतन्त्र जन सक्रियता से चलता है। यदि जनता उदासीन हो गई तो लोकतन्त्र ही मर जायेगा।

3.भ्रष्ट एवं अनैतिक माध्यमों का उपयोगः- प्रारम्भ में यह माना गया कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन में धन-बल का प्रयोग कम होगा। बाद के वर्षो में पाया गया कि वास्तव में इस व्यवस्था में निर्वाचक मंडल को प्रभावित करने के लिये धन-बल का सर्वाधिक प्रयोग हुआ। अमेरिका में राष्ट्रपति के चुनाव में ऐसा देखा गया। अरस्तू के शब्दों में -''थोड़े से व्यक्ति को भ्रष्ट करना अधिक लोगों के भ्रष्ट करने की तुलना में सरल है।''

4.राजनैतिक शिक्षा का अभावः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता न तो सीधे सम्पर्क में आती है और न ही मुख्य निर्वाचन में भाग लेती है। जिसके कारण वह राजनीतिक शिक्षा को प्राप्त नहीं कर पाती है। यह इसका प्रमुख दोष है।

5.जनता एवं प्रतिनिधियों के बीच संपर्क का अभावः- यह अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रमुख दोष है। इस व्यवस्था में जनता तथा उनके प्रतिनिधियों के बीच सीधा संवाद नहीं होता। प्रतिनिधि जनता की समस्या, जरूरत से अवगत नहीं होते। जिसके कारण वे अपने कर्तव्यों का निर्वहन ठीक प्रकार से नहीं कर पाते हैं। यह लोकतन्त्र के लिये शुभ संकेत नहीं है।

6.उत्तरदायित्व का अभावः- अप्रत्यक्ष निर्वाचन में प्रतिनिधि सीधे जनता से जुड़े नहीं होते जिसके कारण वे जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। यह लोकतन्त्र की बड़ी कमजोरी सिद्ध होगी।

7.व्यवहार में यह प्रत्यक्ष निर्वाचन:- अमेरिका के राष्ट्रपति पद के निर्वाचन का अनुभव यह बताता है कि व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन भी प्रत्यक्ष बन जाता है। यह प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की बुराइयों को समेट लेता है।

## 14.9 मतदान की प्रणालियाँ

व्यवहार में लोकतन्त्र की दो प्रणालियाँ दिखायी पड़ती है-(1) प्रकट मतदान (2) गुप्त मतदान

1.प्रकट मतदानः- जब मतदान खुले में सबके सामने हाथ उठाकर या खुले संकेत से किया जाता है तो वह खुला मतदान कहलाता है। यह मतदान का अत्यन्त प्राचीन तरीका है। प्राचीन काल में यूनान एवं कुछ अन्य स्थानों पर खुला मतदान की व्यवस्था थी। आज भी स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैंटनों में यह परंपरा चल रहीं हैं।

जे0 एक0 मिल, ट्राटस्की, मांटेस्क्यू ने खुले मतदान का समर्थन किया। मांटेस्क्यू के शब्दों में -''यह ऐसा माध्यम है जिसमें अधिक प्रबुद्ध लोग साधारण लोगों की सहायता करते हैं और उन्हें शिक्षित कर सकते हैं।'' मिल के शब्दों में- ''किसी अन्य सर्वाजनिक कर्त्तव्य की भाँति मतदान के कर्त्तव्य का निष्पादन भी लोगों की आँखों तथा आलोचना के सामने होना चाहिए।'' यह प्रणाली 1901 तक डेनमार्क में, 1920 तक जर्मनी में प्रचलित थी।

2.गुप्त मतदानः- गुप्त मतदान की व्यवस्था खुले मतदान की एकदम उलट है। इसमें मतदान गुप्त रूप से किया जाता है। उसका मतदान कोई अन्य व्यक्ति नहीं समझ पाता है। आज विश्व में गुप्त मतदान तेजी से बढ़ रहा है। खुले में लोगों की घटती संख्या ने भी गुप्त मतदान को लोकप्रिय बनाया। गुप्त मतदान में हिंसा या भय का वातावरण नहीं रहता। कमजोर व्यक्ति भी बिना भय के मताधिकार का प्रयोग कर पाता है। हैरिगंटन ने गुप्त मतदान व्यवस्था को मुक्त एवं स्वतन्त्र

मतदान की अनिवार्य शर्त माना। ट्राटस्की ने गुप्त मतदान की आलोचना करते हुए कहा था - ''गुप्त मतदान व्यवस्था ऐसी सबसे गंदी चालबाजी है जिसे सदैव उदारवाद के नाम पर प्रस्वावित किया गया है।''

मतदान की कुछ अन्य विधियाँ इस प्रकार हैः-

**14.9.1 बहुमत के आधार पर निर्वाचनः-**

इसका अर्थ है कि चुनाव में अधिकतम मत पाने वाले व्यक्ति को विजयी घोषित कर दिया जाता है। इसके अन्तर्गत विजयी होने के लिये स्पष्ट बहुमत या मतों का कोई कोटा प्राप्त करना आवश्यक नहीं होता है। आधुनिक समय में अधिकांश देशों में यह तरीका ही प्रचलित है। भारत में भी यही विधि प्रचलित है। इस निर्वाचन व्यवस्था में गंभीर दोष है कि कई बार बहुत कम मतों को प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी विजेता हो जाता है। आलोचक इसे अल्पमत का बहुमत का शासन कहते है। उदाहरण के लिये किसी चुनाव में तीन प्रत्याशियों ने क्रमशः 2000, 1800,1500 मत प्राप्त किये तो इसमें सर्वाधिक मत 2000 मत पाने वाला प्रत्याशी विजयी घोषित कर दिया जायेगा। इसमें यह देखा गया है कि मतों में बहुत मत प्रतिशत पाने वाला व्यक्ति भी विजयी हो जाता है।

**14.9.2 द्वितीय मतदान व्यवस्थाः-**

इसमें यह व्यवस्था की गई कि विजेता को डाले गये मतों का 50 प्रतिशत से अधिक पाना आवश्यक है। यदि कोई प्रत्याशी डाले गये मतों का 50 प्रतिशत से कम (स्पष्ट बहुमत) प्राप्त करता है तो चुनाव रद्द कर दिया जाता है। पुनः चुनाव में सर्वाधिक मत पाने वाले प्रथम दो प्रत्याशियों में चुनाव होता है। यदि प्रथम दो में से कोई चुनाव नहीं लड़ना चाहता तो अगला व्यक्ति यह अवसर पाता है। द्वितीय मतदान व्यवस्था में बहुमत के अभाव में द्वितीय मतदान से विजेता का फैसला होता है। फ्रांस में राष्ट्रपति का चुनाव इसी विधि से होता है। इसमें स्पष्ट बहुमत से निर्वाचन होता है। इस विधि की आलोचना का प्रमुख आधार इसमे दोबारा निर्वाचन कराना पड़ता है। इससे समय एवं धन का अपव्यय होता है। कतिपय इसी दोष को दूर करने के लिये वैकल्पिक मतदान व्यवस्था का निर्माण हुआ।

**14.9.3 वैकल्पिक मतदान व्यवस्थाः-**

इसे वरीयता या सापेक्षतापूर्ण मतदान की व्यवस्था के नाम से भी पुकारा जाता है। इसमें विजयी होने के लिये प्रत्याशी को कुल डाले गये मतों का स्पष्ट बहुमत प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके लिये दोबारा चुनाव नहीं होता है।

वैकल्पिक मतदान व्यवस्था में मतदाता को ऐसा मतपत्र दिया जाता है जिसमें प्रत्याशियों का नाम तथा चुनाव चिन्ह बायें और दिये जाते हैं। और दाहिने तरफ खाली खाने होते हैं। जिसमे मतदाता को 1,2,3,4 आदि लिखकर अपनी पंसद का क्रम दिखाना होता है। मतदान के बाद वैध मतों संख्या में 1+1 = 2 से भाग देकर भागफल में 2 जोड़कर चुनाव ''कोटा'' निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिये किसी मतदान में वैध मत 200 हैं तो कोटा 200/1+1 = 2 =100, 100+ 1=101 होगा।

इस व्यवस्था में गिनती की विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है। सबसे पहले प्रथम वरीयता के मतों की गिनती होती है। यदि प्रथम वरीयता के मतों से कोई प्रत्याशी ''कोटा'' प्राप्त कर लेता है तो उसे विजेता घोषित कर दिया जाता है। यदि कोई भी प्रत्याशी निर्धारित ''कोटा'' नहीं प्राप्त कर पाता है तो सबसे कम मत पाने वाले प्रत्याशी को हटा दिया जाता है और उसके मतपत्रों में अंकित द्वितीय पसंद के मतों को अन्य प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। द्वितीय

वरीयता के मतों को जोड़ने से यदि किसी प्रत्याशी को ''कोटा'' प्राप्त हो जाता है तो उसे विजेता घोषित कर दिया जाता है। यदि द्वितीय मत से भी ''कोटा'' प्राप्त नहीं होता तो तृतीय वरीयता के मतों को हस्तान्तरित किया जाता है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक ''कोटा'' प्राप्त न हो जाये। भारत में राष्ट्रपति के चुनाव में यही प्रक्रिया अपनायी जाती है।

## 14.10 अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

सामान्यतः प्रतिनिधित्व से बहुमत के प्रतिनिधित्व का बोध होता है क्योंकि निर्वाचन में उम्मीदवारों का चुनाव बहुमत के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक समाज में अल्पसंख्य समुदाय भी होता है। सामान्य निर्वाचन प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों को समुचित प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता। कतिपय यह कारण है कि सभी देशों में अल्पसंख्यकां को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गई है। जे0एस0मिल एवं लेवी ने अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व को मजबूती से उठाया। मिल ने अपने पुस्तक ''रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट'' में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विस्तार से चर्चा की। मिल के शब्दों में -'' सच्चे प्रजातंत्र के अन्तर्गत प्रत्येक समुदाय को आनुपातिक ढंग से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।''

आधुनिक समय में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न एक गंभीर प्रश्न है। इसकी किसी भी स्थिति में अवहेलना करना अन्यायपूर्ण होगा। अल्पसंख्यकों को साथ में जोड़े बिना वास्तविक लोकतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

मिल के शब्दों में -'' प्रजातंत्र का विशुद्ध अर्थ उस शासन से है, जो सारी जनता का शासन हो, एक समान प्रतिनिधित्व के आधार पर सारी जनता द्वारा हो।''

विभिन्न विद्वानों और विचारकों ने भी अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर विचार किया है। इस संबंध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है। इसमें से प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली
2.सूची प्रणाली
3.सीमित मतदान प्रणाली
4.संचित मतदान प्रणाली
5.वैकल्पिक मत प्रणाली
6.सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली
7.द्वितीय मतदान प्रणाली

### 14.10.1 आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इंग्लैण्ड के विद्वान थामस हेयर ने अठारहवीं शताब्दी में किया। यही कारण है कि कुछ विद्वान इसे हेयर प्रणाली भी कहते है। इस पद्धति को अपनाने के लिये आवश्यक है कि बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना चाहिये। ऐसे निर्वाचन क्षेत्र में प्रत्येक मतदाता को उतने संख्या में मत देने का अधिकर होता है। जितने उम्मीदवार चुने

जाते है। इस व्यवस्था में विजय का आधार बहुमत नहींवरननिश्चित कोटा होता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को व्यवहारिक बनाने के लिये दो विधियाँ विकसित की गई। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के तीन तत्व है-

i.बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना चाहिए।

ii.प्रत्याशी का निर्वाचन बहुमत से नहींवरनमतों का निश्चित कोटा के आधार पर होना चाहिए। यह कोटा कुल वैध मतों को भरे जाने वाले स्थान से भाग देने पर भागफल में एक जोड़कर प्राप्त किया जा सकता है।

iii.जहाँ तक संभव हो विधायिका में निर्वाचकों का प्रतिनिधित्व गणितीय दृष्टि से ठीक हो।

डायसी के शब्दों में - ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली वह है जिसमें बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र हो, प्रत्याशी का निर्वाचन बहुमत से नहीं वरन कोटा प्राप्त करने से होना चाहिये। साथ ही विधायिका में ऐसा प्रतिनिधित्व हो जो गणितीय दृष्टि से सटीक हो।''

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि निर्वाचकों के विचारों को विधायिका में यथासंभव उसी अनुपात में प्रतिनिधित्व दिलाने के लिये जितने निर्वाचक है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को व्यवहारिक बनाने के लिये दो विधियाँ विकसित की गई-

- एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्था ; (Single transferable vote system)
- सूची व्यवस्था (List system)

**14.10.1.1 एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्थाः-**

एकल हस्तान्तरणीय मत व्यवस्था को सबसे पहले डेन्मार्क के एक मन्त्री कार्ल एंडरे ने प्रस्तुत किया। परन्तु इसे हेयर ने और व्यावहारिक बनाया अतः इसे ''हेयर प्रणाली'' भी कहा जाता है। इस व्यवस्था में मतदाता को ऐसा मत पत्र दिया जाता है जिसमें बायें ओर सभी प्रत्याशियों के नाम एवं चिन्ह अंकित होते हैं तथा दाहिने छोर पर खाली खाने होते हैं। उसे इन खाली में अपने पसन्द के क्रम 'वरीयता' अंकित करने होते है। वह सभी अथवा कुछ को भर सकता है। मतगणना के समय अवैध मतपत्रों को अलग कर दिया जाता है। वैध मतों में चुने जाने वाले सीटों की संख्या में एक जोड़कर भाग दे दिया जाता है यही भागफल एक जोड़कर 'कोटा' प्राप्त किया जाता है। इस सूत्र को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

निर्वाचन के लिये कोटा से अधिक या बराबर मत प्राप्त करना आवश्यक होता है। यदि मतगणना में किसी को कोटा प्राप्त नहीं हो पाता है तो सबसे कम मत प्राप्त होने वाले व्यक्ति को बाहर कर दिया जाता है और उसके द्वितीय वरीयता के मत दूसरे प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। यदि फिर भी 'कोटा' प्राप्त नहीं होता है तब सबसे कम मत पाने वाले प्रत्याशी को बाहर कर उसके मतों को अन्य प्रत्याशियों में हस्तान्तरित कर दिया जाता है। निर्वाचन कोटा प्राप्त करने वाले व्यक्ति विजयी होते है। प्रथम मतगणना में कोटा प्राप्त होने के बाद उसके कोटा से अधिक द्वितीय वरीयता के मत शेष प्रत्याशियों को हस्तांतरित कर दिये जाते है। इस प्रकार मतों का हस्तान्तरण तब तक चलता रहता है। जब तक आवश्यक संख्या में सदस्य निश्चित मत संख्या प्राप्त नहीं कर लेते।

यह प्रणाली थोड़ी जटिल है फिर भी नार्वे, डेनमार्क, स्वीडन, फिनलैण्ड में प्रचलित है। भारत में राज्य सभा, विधान परिषद के चुनाव में इसका प्रयोग होता है।

### 14.10.1.2 सूची प्रणाली

आनुपातिक मत पद्धति का दूसरा रूप सूची प्रणाली है। इस प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र में 15 से 20 सदस्य होते हैं। इस प्रणाली में जो प्रत्याशी खड़े होते हैं, उनके दल द्वारा अपने-अपने प्रत्याशियों की सूची बना ली जाती है। प्रत्येक मतदाता कुल चुने जाने वाले लोगों के बराबर मत देता है। एक उम्मीदवार को एक मत ही प्राप्त होता है। गणना से पूर्व कोटा पहले से तय कर लिया जाता है। इस प्रणाली में उम्मीदवारों द्वारा पृथक-पृथक प्राप्त मतों की संख्या की गणना नहीं की जाती हैवरनविभिन्न सूचियों में प्राप्त मतों की गणना की जाती है। यह देखा जाता है कि किस दल ने कितने प्रतिशत मत प्राप्त किये हैं। स्थानों का विभाजन उसी प्रतिशत के अनुसार दलों के पक्ष में किया जाता है।

यह भी हो सकता है कि कोई दल विजयी होने के लिये आवश्यक प्रतिशत न पा सका हो। यह भी हो सकता है कि अपने मतों का प्रतिशत किसी पड़ोसी अथवा अन्य बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में ले जाकर वहाँ इस शेषांश के संचय के माध्यम से एक या अधिक स्थान पाने का प्रयास करता है। वह किसी अन्य दल को बचे मत दे सकता है जिससे ''साझे प्रत्याशी'' के लिये स्थान प्राप्त किया जा सके।

सूची प्रणाली में मतदान व्यक्ति के आधार पर नहींवरनपार्टी के आधार पर किया जाता है। यह सरल प्रणाली है। इसमें सभी दलों, समूहों को स्थान दिया जाता है। विजयी उम्मीदवारों की संख्या उनके द्वारा प्राप्त मत संख्या के अनुपात में तय की जाती है। यह प्रणाली कम खर्चीली भी है।

## 14.11 आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रमुख गुण इस प्रकार है-

1.अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व:- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है। यह प्रणाली अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करती है। इसके अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। जिससे इनके अन्दर सुरक्षा की भावना का विकास एवं सन्तोष की प्राप्ति होती है।

2.सभी वर्गो का हित साधनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। इस प्रणाली में संख्या बल में कमजोर अल्पसंख्यकों का भी प्रतिनिधित्व होता है। इसमें प्रत्येक मत का इस्तेमाल होता है। कुल मिलाकर यह प्रणाली सम्पूर्ण समाज के हित में है।

3.नागरिक चेतना का विकासः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में प्रत्येक मत का अपना महत्व होता है। सभी वर्ग के लोग मतदान प्रक्रिया में उत्साह के साथ भाग लेते है। यह प्रक्रिया लोगों में उत्साह का संचार करती है। यह उत्साह उन्हे राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय करता है। जिससे राजनीतिक चेतना का विकास होता है।

4.भ्रष्टाचार का अन्तः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है। इसमें भ्रष्टाचार का अन्त हो जाता है। यह ऐसी प्रणाली है जिसमें सभी दलों का प्रतिनिधित्व होता है। इसमें किसी एक दल का प्रचण्ड बहुमत नहीं होता।

अधिकाशतः मिश्रित सरकार बनती है जो संतुलित रहती है। इसमें सरकारों की मनमानी एवं भ्रष्टाचार की संभावना कम रहती है।

5.राजनीतिक शिक्षा का प्रसारः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में मतदाताओं को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। इसमें सभी मतदाताओं को अपनी पसन्द जारी करने का अवसर प्राप्त होता है। यह उन्हें राजनीतिक व्यवस्था में सक्रिय बनाती है तथा राजनीतिक शिक्षा भी प्रदान करती है।

6.राष्ट्रीय हितों का संवर्द्धनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख गुण है कि इसमें राष्ट्रीय हितों की पूर्ति होती है। कोई भी दल स्वार्थी से प्रेरित होकर राष्ट्रीय हितों की अनदेखी नहीं कर पाता। प्रत्येक वर्ग, दल के प्रतिनिधित्व से संसद अथवा विधायिका में सत्तारूढ़ दल की पर्याप्त प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। अतः वे राष्ट्रीय हितों की अनदेखी नहीं कर पाते हैं।

7.श्रेष्ठ व्यक्तियों का शासनः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में श्रेष्ठ व्यक्ति शासन के कार्य को करते हैं। वे विधायिका में अपनी योग्यता, प्रतिभा का परिचय देते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में चुनाव की पद्धति योग्य व्यक्तियों को चुनाव में सफल करती है। मिल के शब्दों में- ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की तुलना में कोई अन्य निर्वाचन प्रणाली नहीं है जिसके द्वारा श्रेष्ठ व्यक्तियों को विधायिका में लाया जा सके।''

8.उम्मीदवार एवं मतदाताओं में घनिष्ठ सम्बन्धः- इस प्रणाली में मतदाताओं एवं उम्मीदवारों में घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। मिल के शब्दों में - ''इन परिस्थितियों में निर्वाचक और प्रतिनिधि के बीच सशक्त ओर महत्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होता है क्योंकि प्रत्येक मतदाता उम्मीदवारों से अपनापन का अनुभव करता है और प्रत्येक प्रतिनिधि मतदाता से घनिष्ठता महसूस करता है।

9.गैरीमेण्डरिंग जैसी बुराइयों का अन्तः- गैरीमेण्डरिंग आधुनिक समय में दिखायी पड़ रही एक बुराई है। इसमें निर्वाचन क्षेत्रों में सत्तारूढ़ दल अपने हितों के अनुरूप निर्वाचन क्षेत्रों में बदलाव करता है। यह एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में हो पाता है। आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में होती है अतः वहाँ पर गैरीमेण्डरिंग का भय नहीं रहता है।

10. प्रजातन्त्रवादीः- प्रजातन्त्र जनता का शासन है। अतः जनता का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व (सभी वर्गों , पंथों) करने के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली ही कारगर है। लार्ड एक्टन के शब्दों में- ''यह अति प्रजातन्त्रवादी है क्योंकि इससे उन सहस्त्रों व्यक्तियों का शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है जिनकी वैसे कोई सुनवाई नहीं होगी। यह समानता के सिद्धान्त के निकट है क्योंकि किसी मत का अपव्यय नहीं किया जाता। प्रत्येक मतदाता का व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व होता है।

## 14.12 आनुपातिक प्रतिनिधित्व के दोषः-

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में अनेक गुण हैं परन्तु इसके साथ इसमें कुछ दोष भी दिखायी पड़ते हैं। इस सम्बन्ध में स्ट्रांग का कथन प्रासंगिक हो जाता है- ''सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रतीत होती है, किन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है।'' इसके प्रमुख दोष निम्न है-

1.जटिल शासन प्रणालीः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह एक प्रमुख दोष है। यह निर्वाचन प्रणाली जटिल है। सामान्य मतदाता के समझ से परे है। विशेष रूप से मतगणना की प्रक्रिया भी जटिल है। प्रो0 जे0पी0 सूद के शब्दों में - ''यह पद्धति इतनी जटिल है कि इसके अन्तर्गत मतदाता और उम्मीदवार दोनों गणना पदाधिकारियों की दया पर निर्भर करते है।''

2.मजबूत सरकारों का अभावः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह प्रमुख दोष है। इसमें स्थायी सरकार का निर्माण नहीं हो पाता है। इस पद्धति में किसी दल विशेष को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता है। इतिहास में ऐसे कई अवसर आये हैं जब मिश्रित सरकारें बनी हैं और अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी हैं। फाइनर के शब्दों में - ''विभाजन तथा पृथक्करण को प्रोत्साहित करके यह कार्यकारिणी के स्थायित्व को धक्का पहुँचाती है।''

3.एक सदस्यीय एवं छोटे क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्तः- यह निर्वाचन पद्धति बड़े तथा बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयुक्त है परन्तु एक सदस्यीय एवं छोटे निर्वाचन क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त होती है।

4.चुनाव का आधार योग्यता न होकर दलीय गुटबन्दीः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में चुनाव का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। मतदाता एवं प्रतिनिधियों के बीच सम्पर्क नही हो पाता है। मतदाता, चुनाव योग्यता के आधार पर न कर दलीय आधार पर करते हैं।

5.स्वतन्त्र एवं निर्दल उम्मीदवारों के विरूद्धः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का यह दोष है कि इसमें स्वतन्त्र एवं निर्दल उम्मीदवारों के लिये कोई स्थान नहीं होता है। इसमें केवल पार्टी टिकट पर खड़े उम्मीदवार ही चुनाव लड़ पाते हैं।

6.मतदाता एवं निर्वाचकों के मध्य मजबूत सम्बन्ध का अभावः- आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र आवश्यक होते हैं। इसके परिणामस्वरूप निर्वाचकों एवं उम्मीदवारें के बीच सम्पर्क एवं सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता। प्रतिनिधि दल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। फाइनर के शब्दों में - ''इसे अपनाने पर प्रतिनिधि द्वारा अपने क्षेत्र की देखभाल समाप्त हो जाती है।''

7.अनेक दलों एवं गुटों का जन्मः- इस निर्वाचन प्रणाली को अपनाने से पृथक वर्ग एवं हित समूह की आशा जगती है। इसके परिणामस्वरूप अनेक दलों एवं गुटों की संख्या बढ़ जाती है। जर्मनी के वीमर संविधान में इसे अपनाये जाने से वहाँ दलों की संख्या 30 से अधिक होती है। लास्की के शब्दों में - ''इसके अन्तर्गत अनेक दल एवं गुटों का जन्म होता है।''

8.वर्गीय हितों की पूर्तिः- इस पद्धति में विधायिका राष्ट्रीय हितों का संवर्धन नहीं करतीवरनक्षेत्रीय एवं वर्गीय हितों की पूर्ति करती है। विकास एवं राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान वर्गीय हितों के आधार पर किया जाता है। सिजयिक के शब्दों में - ''वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित वर्गीय व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।''

9.राष्ट्रीय एकता के लिये घातकः- इस प्रणाली में संकीर्ण हितों की पूर्ति के लिये प्रयास किये जाते हैं। राष्ट्रीय हितों की अनदेखी की जाती है। इसमें राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रम नहीं होते हैं। प्रो0 स्ट्रांग के शब्दों में- ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली संकीर्ण विचारधारा को जन्म देती है जो सामाजिक स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है।''

10.उपचुनाव की व्यवस्था नहीं- कुछ आलोचकों का मानना है कि आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में उपचुनाव की व्यवस्था नहीं है जिसके कारण जनता का मिजाज सरकार की लोकप्रियता की परख नहीं हो पाती है। फाइनर के शब्दों में - ''उपचुनाव से यह ज्ञात होता है कि हवा किस ओर बह रही है, परन्तु ऐसा उपचुनाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में सम्भव नहीं है।''

विभिन्न विद्वानों ने इस प्रणाली की व्यापक आलेचना की है। लास्की के शब्दों में - ''यह योजना जनजीवन के स्तर को उन्नत बनाने में असफल रही है।'' फ्रांसीसी विद्वान एसमिन के शब्दों में - ''आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की स्थापना करना द्विसदनीय व्यवस्था द्वारा प्रदत्त अमृत को विष में परिवर्तित करना है।

यह सत्य है कि यह प्रणाली सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों के लिये अनुपयुक्त है। यह विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के लिये उपयोगी सिद्ध हुई है।

## 14.13 संचित मतदान प्रणाली

इस मतदान प्रणाली के लिय बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को उतने मत दिये जाते हैं जितने सदस्य उस क्षेत्र से चुने जाने वाले हैं। प्रत्येक मतदाता को यह विशेष अधिकार होता है कि वह अपने समस्त मत चाहे तो एक प्रत्याशी को दे दे या अलग-अलग प्रत्याशियों को दे। यह व्यवस्था अल्पसंख्यकों को एक साथ संगठित हो अपने पूरे मत किसी विशेष प्रत्याशी को देने से, चुने जाने का अवसर प्रदान कर देती है।

इस मत प्रणाली में अनेक दोष दिखायी पड़ते है। इसमें अल्पसंख्यकों का आनुपातिक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता है। इस प्रणाली का दूसरा महत्वपूर्ण दोष है कि मतदाताओं के अनेक मत व्यर्थ हो जाते है। कई बार परिस्थितिवश अल्पसंख्यकों को अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। मतगणनामेंभी यह मतदान प्रणाली जटिल है।

## 14.14 सीमित मतदान प्रणाली

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिये सीमित मतदान प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। इसका प्रयोग बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में किया जाता है जिसमें कम से कम तीन सदस्य निर्वाचित होने की व्यवस्था हो। इस प्रणाली में प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक मत तथा कुल निर्वाचित होने वाले लोगों से कम प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये किसी क्षेत्र विशेष से 4 सदस्यों का निर्वाचन होना है तो वहाँ मतदाताओं को अधिकतम 3 मत प्राप्त हो सकते है। इसमें मतदाता किसी प्रत्याशी को एक से अधिक मत नहीं दे सकता।

इस मतदान प्रणाली में अल्पसंख्यकों को कुछ प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हो जाता है किन्तु जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व की संभावना नहीं रहती। केवल बड़े अल्पमत वर्गों को प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त होता है।

## 14.15 सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली

सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को पृथक निर्वाचन प्रणाली भी कहा जाता है। भारत में यह उपनिवेशवाद के दौरान अंग्रेजों की देन है। इस प्रणाली में धर्म अथवा सम्प्रदाय के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बनाये जाते है। भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान में मुसलमानों के लिये यह सिद्धान्त अपनाया गया। 1919 के सिक्खों को पृथक प्रतिनिधित्व का

अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था में प्रत्येक सम्प्रदाय के लिये स्थान सुरक्षित कर दिये जाते है। एक सम्प्रदाय के लिये आरक्षित स्थान उस वर्ग से भरे जाते है। इस निर्वाचन प्रणाली में एक सम्प्रदाय के लिये आरक्षित स्थान पर उस वर्ग के व्यक्तियों द्वारा ही निर्वाचन किया जाता है। उदाहरण के लिये मुस्लिम मतदाता मुस्लिम प्रतिनिधि का चुनाव करता है तथा सिक्ख मतदाता सिक्ख प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं।

यह निर्वाचन प्रणाली धार्मिक अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व अवश्य देती है परन्तु इसका उद्देश्य, प्रभाव समाज के लिये ठीक नहीं है। इससे समाज में सांप्रदायिक भावना के विकास की संभावना प्रबल हो जाती है। देश कई भागों में बंट जायेगा और साम्प्रदायिकता की आग फैल जायेगी। इससे दंगों की संभावना प्रबल होगी और राष्ट्रविरोधी शक्तियों को बल मिलेगा । अंग्रेजों द्वारा विकसित की गई इस योजना का मकसद भारत के समाज को बांटकर इसकी एकता एवं स्वतन्त्रता संघर्ष में लगी शक्ति को कम करना था। यह उनकी ''फूट डालो राज करो'' की नीति का क्रियान्वयन था।

## 14.16 व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

प्रतिनिधित्व का यह आधुनिक सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत यह स्वीकार किया जाता है कि प्रतिनिधितव का वर्तमान सिद्धान्त ''क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त'' न्यायपूर्ण नहीं है। उनका मानना है कि प्रतिनिधित्व क्षेत्र के आधार पर न होकर व्यवसाय के आधार पर होना चाहिए। इनका मानना है कि विशिष्ट हित रखने वाले सामाजिक, आर्थिक, व्यवसायिक समूहों को विधायिका में स्थान मिलना चाहिए। गार्नर के शब्दों में- ''प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की तथाकथित प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के स्थान पर व्यवसायिक, कार्य सम्बन्धी या पेशेवर प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिए जो प्रादेशिक रेखाओं की उपेक्षा करें, क्योंकि वे प्रमुख रूप से बनावटी होती है तथा उन सीमाओं को नहीं दर्शाती जो विभिन्न वर्गों के वास्तविक हित को भिन्न करती है और जिनसे आधुनिक समाजों का गठन हुआ है।''

सरल शब्दों में व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के विचार की प्रमुख मान्यता यह है कि केवल जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्रों का बंटवारा ठीक नहीं है। इसके स्थान पर विभिन्न व्यवसायों, धन्धों की गणना होनी चाहिए और उनके आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। इस प्रकार विधायिका में व्यापारी वर्ग द्वारा चुने गये व्यापारी, श्रमिक वर्ग द्वारा श्रमिक, कृषक वर्ग द्वारा चुने गये कृषक, अध्यापकों द्वारा चुने गये अध्यापकों आदि का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जी0डी0एच0 कोल व्यावसायिक प्रतिनिधित्व के प्रबल समर्थक थे उनका कहना था- ''पूर्णतया वास्तविक एवं प्रजातान्त्रिक प्रतिनिधित्व व्यावसायिक प्रतिनिधित्व है। इसका अभिप्राय है कि समाज में उतने पृथक रूप से चुने गये प्रतिनिधियों के समूह होने चाहिए जितने प्रचलित विशिष्ट कार्यो के समूह हो।''

कोल ने आगे और स्पष्ट करते हुए लिखा- ''संसद सभी नागरिकों का सभी तरह से प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है परन्तु वास्तव में वह उनमें से किसी का किसी तरह प्रतिनिधित्व नहीं करती। उन्हें उन समस्याओं से निपटने के लिये चुना जाता है जो इसके सामने आती हैं परन्तु इस तथ्य पर कोई ध्यान नहीं देता कि विभिन्न प्रकार की समस्यायें पैदा हो सकती हैं जिनसे निपटने के लिये विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों की जरूरत होती हैं। हमारे संसदीय शासन की व्यर्थता से बचने का एक तरीका हो सकता है कि प्रत्येक व्यवसाय एवं प्रत्येक संघ के कार्य के लिये प्रतिनिधियों के अलग-अलग

निकाय हों। वास्तविक प्रजातन्त्र किसी अकेली सर्वशक्तिमान प्रतिनिधि सभा में नहीं बल्कि व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था में संभव हो सकता है।''

### 14.16.1 व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के दोषः-

इस सिद्धान्त में कुछ दोष दिखायी पड़ते हैं जो इस प्रकार हैं-

1.राष्ट्रीय हित की अनदेखीः- व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त में व्यवसाय एवं वर्ग के आधार पर प्रतिनिधित्व होता है जिसके कारण वे अपने हितो की पूर्ति में लगे रहते हैं और राष्ट्रीय हित गौण हो जाते हैं।

2.वर्ग अथवा व्यावसायिक संघर्षः- व्यावसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त में विभिन्न वर्गों में एक तरह से होड़ अथवा संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह किसी भी समाज के लिये हितकर नहीं होता। यह इस सिद्धान्त का प्रमुख दोष है।

3.सम्पूर्ण मानव हितों की अनदेखीः- कुछ आलोचकों का मत है कि यह सिद्धान्त केवल व्यावसायिक हितों को महत्व देता है। यह सम्पूर्ण मानव हितों के ही अंग है। व्यक्ति के सभी हित नागरिक हित के अन्तर्गत ही आते हैं। मैरियट के शब्दों में-''नागरिक का महत्व, डॉक्टर, वकील, व्यापारी, सोनार से कहीं अधिक है।''

4.सामाजिक एवं नागरिक एकता की क्षतिः-यह सिद्धान्त सामाजिकता की भावना पर गहरा कुठाराघात करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसके हितों की पूर्ति सामाजिक एवं नागरिक आधार पर हो सकती है। व्यवसाय एवं वर्ग के आधार पर प्रतिनिधित्व होने से सामाजिक एकता को क्षति होगी।

5.अव्यावहारिक सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त को लागू करने में व्यावहारिक क्षति होगी। यह पता करना मुश्किल है कि किस हित को कितना महत्व प्रदान किया जाये। लास्की के शब्दों में - ''यह समझ से परे है कि चिकित्सा सम्बन्धी कार्य संसद के प्रयोजनों के लिये किस प्रकार अनिवार्य हैं।''

6.अनुपयोगी सिद्धान्तः- यह सिद्धान्त अनुपयोगी है। व्यावसायिक आधार पर चुने गये प्रतिनिधि सार्वजनिक हित, राष्ट्रीय हित के प्रश्नों पर विचार नहीं रखते हैं। अतः यह सिद्धान्त लोकतन्त्र में अनुपयोगी हो जाता है।

## 14.17 आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक शर्तें

लोकतन्त्र में प्रतिनिधित्व का बहुत महत्व है। यदि प्रतिनिधित्व ठीक से नहीं होता है तो लोकतन्त्र का भविष्य भी अन्धकारमय हो सकता है। यदि प्रतिनिधित्व समानता के आधार पर नहीं है, निष्पक्ष नहीं है तो लोकतन्त्र प्रभावित होता है। सामान्य शब्दों में कहें तो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रतिनिधित्व के बिना आदर्श लोकतन्त्र की कल्पना नहीं कर सकते हैं। आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये कुछ आवश्यक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, आदर्श प्रतिनिधित्व की कुछ प्रमुख शर्तें इस प्रकार हैं-

1.स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनावः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि निर्वाचन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष हो। यदि निर्वाचन स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नहीं होगा तो समाज के सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पायेगा। अतः सभी को उचित एवं न्यायपूर्ण प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि निर्वाचन पक्षपात पूर्ण न हो कर स्वतन्त्र हो।

2.सार्वभौम वयस्क मताधिकारः- समाज में विषमता पाई जाती है। सभी को लोकतन्त्र में राजनीतिक अधिकार दिये जाते हैं। जब तक समाज के हर वर्ग को मताधिकार नहीं मिलेगा तब तक वे अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर

पायेंगे। यही कारण है कि आधुनिक समय में सार्वभौम वयस्क मताधिकार दिया गया जिससे सभी स्त्री-पुरूष एवं कमजोर वर्ग के लोग अपने मतों का प्रयोग कर सकें।

3.मतदाता एवं जनप्रतिनिधियों में घनिष्ठ सम्बन्धः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है कि मतदाता एवं प्रतिनिधियों में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। यह घनिष्ठ मतदाताओं को जागृत करता है तथा जनप्रतिनिधियों को अंकुश में रखता है। वे जनप्रतिनिधियों को उनके कर्तव्यों के प्रति सचेत करते हैं। इसके लिये एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों को अपना कर पूर्ति की जा सकती है।

4.अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्वः- समाज में अनेक जाति, धर्म के लोग होते हैं। लोकतन्त्र में सभी की सहभागिता आवश्यक है। समाज में वर्ग विशेष की आबादी कम भी होती है। अतः ऐसे भी बहुमत आधारित चुनाव प्रक्रिया में यह असफल हो जाते हैं। अतः उनकों पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रयास आवश्यक है। इन प्रयासों में उव वर्ग का मनोनयन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली अच्छे विकल्प हो सकते हैं।

5.जनसंख्या आधारित छोटे निर्वाचन क्षेत्रः- आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है जनसंख्या आधारित छोटे निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए। इससे जन प्रतिनिधि अपने क्षेत्र विशेष के प्रति अपने कर्तव्यों को कर पायेंगे। वे क्षेत्र विशेष की समस्याओं को दूर कर क्षेत्र की जनता के हितों की रक्षा कर सकेंगे। यहीं प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र की मूल मंशा है। अतः कहा जा सकता है कि छोटे निर्वाचन क्षेत्र आदर्श प्रतिनिधित्व के लिये आवश्यक है।

6.प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष निर्वाचन का उचित संतुलनः- प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था प्रजातन्त्र की धारणा के अनुकूल है। आधुनिक समय के विशाल राष्ट्रों के कारण प्रत्यक्ष निर्वाचन सम्भव नहीं है। कतिपय यही कारण है कि अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र को अपनाया गया है। साथ ही कुछ पदों पर जहाँ प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व हो सकता है। वहाँ पर प्रत्यक्ष निर्वाचन भी अपनाया गया है। भारत में ये दोनों गुण मिलते हैं। जहाँ लोकसभा के चुनाव में जनता सीधे (प्रत्यक्ष) रूप में भाग लेती है। वहीं राष्ट्रपति एवं राज्यसभा में अप्रत्यक्ष (परोक्ष) रूप से भाग लेती है।

**अभ्यास के प्रश्नः-**

1.'मतों को गिनना नहीं तोलना चाहिए' यह कथन है।

अ फाइनर ब लावेल स रेन द लास्की

2.'सामान्य व्यक्ति को मताधिकार देने से पूर्व उसे शिक्षित, करना चाहिए' यह कथन है-

अ ग्रीन ब मैकाइवर स बेथम द मिल

3.निम्न में से कौन व्यवसायिक प्रतिनिधित्व सिद्धान्त का समर्थक है-

अ कोल ब मैरियट स हेयर द सभी

4.अच्छे प्रतिनिधित्व के लिये क्या आवश्यक नहीं है-

अ सार्वभौम व्यस्क मताधिकार ब प्रादेशिक प्रतिनिधित्व स खुला मतदान

द अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व

5.निम्न में से कौन सा अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त है-

अ आनुपातिक प्रतिनिधित्व ब सूची प्रणाली स वैकल्पिक प्रणाली द सभी

## 14.18 सारांशः-

आधुनिक समय में दुनिया में प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र पाया जाता है। राज्यों का आकार एवं आबादी इतनी अधिक है कि सभी नागरिक शासन संचालन की प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकते है। ऐसे में नागरिक समाज से उनके प्रतिनिधि ही विधि निर्माण एवं शासन की क्रिया में भाग लेते है। जनता अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन संचालन का कार्य करती है। सामान्यतः आमचुनाव में विधानिक के सदस्यों अथवा जनप्रतिनिधियों का निर्वाचन जनता करती है। जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन संचालन की व्यवस्था को प्रतिनिधित्व कहा जाता है। आज राज्यों के बड़े आकार एवं विशाल जनसंख्या के अतिरिक्त सामान्य जनता विधि निर्माण एवं शासन संचालन एवं विधि निर्माण में असमर्थ होती है। इसके अतिरिक्त शासन एवं विधि निर्माण कार्य की जटिलता सामान्य नागरिकों के समथर्न एवं समझ से परे होती है। कतिपय इन्हीं कारणों से प्रतिनिधित्व की आवश्यकता होती है।

प्राचीन राजतन्त्रात्मक युग में प्रतिनिधित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मध्ययुग में इसके संकेत मिलने प्रारम्भ हो गये थे। जे0ए0कारी के शब्दों में -'' चर्च के धार्मिक प्रतिनिधियों के एकत्र होने के साथ ही प्रतिनिधित्व का श्रीगणेश हुआ। ब्रिटेनमेंनये कर लगाने के लिये प्रजा की राय जानने से प्रतिनिधियों का राजदरबार में आमन्त्रित करने की परम्परा ने प्रतिनिधित्व का मजबूत एवं स्थायी बना दिया। ब्रिटेन में प्रतिनिधित्व समय के साथ स्थायी एवं व्यापक हो गया। आगे जाकर यह परम्परा वहाँ संसदीय शासन एवं द्वि सदनात्मक विधायिका (हाउस ऑफ कामन्स एवं हाउस आफ लार्डस) के उदय तथा प्रधानमंत्री के नेतृत्व की जनक बन गई। आगे जाकर यूरोप के फ्रांस में इस्टेटस जनरल, जर्मनी में डाइट, स्पेन में कटिस का जन्म इसी आधार पर हुआ।

## 14.19 शब्दावली

साम्प्रदायिक निर्वाचनः- यह अंग्रेजों द्वारा 1909 में मुस्लिम तुष्टिकरण हेतु भारत मं लायी गयी व्यवस्था थी जिसमें उनके लिये पृथक निर्वाचन क्षेत्र बनाया गया था।

गैरीमेंडरिंगः- एकल सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में पायी जाने वाली बुराई है। इसमें सत्तारूढ़ दल अपने हितों के अनुरूप निर्वाचन क्षेत्र में बदलाव करता है। यह अमेरिकामेंबहुत प्रचालित है।

प्रत्यक्ष प्रजातन्त्रः- नागरिकों के द्वारा सीधे तौर पर विधि निर्माण एवं शासन के कार्य में भाग लेना ही प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र है। आज भी स्विटरजरलैण्ड के कुछ कैटंन (राज्यों) में प्रचलित है।

## 14.20 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.स,2.द,3.अ,4.स,5.द

## 14.21 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.सिंहल एस0सी0, तुलनात्मक राजनीति

2.प्रसाद मणि शंकर, तुलनात्मक राजनीति
3.जौहरी जे0सी0, जौहरी सीमा, आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त
4.मल्ल वी0पी0, राजनीति विज्ञान
5.गाबा,ओ0पी0, राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा

## 14.22 सहायक एवं उपयोगी पाठ्य सामग्री -

1.गेना सी0वी0, तुलनात्मक राजनीति एवं राजनीतिक संस्थायें
2.सोडारे माइकल, कम्परेटिव पालिटिक्स
3.खन्ना वी0एन0, आधुनिक सरकारें
4.संधू ज्ञान सिंह, राजनीति सिद्धान्त

## 14.23 निबन्धात्मक प्रश्नः-

1.प्रतिनिधित्व से आप क्या समझते है ? इसके प्रमुख सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये।
2.प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं उत्पति स्पष्ट कीजिये तथा व्यवसायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये।
3.अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने वाली प्रणलियों की व्याख्या कीजिये।
4.आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली से क्या समझते है? इसके गुण दोष की व्याख्या कीजिये।
5.सार्वभौम व्यस्क मताधिकार पर निबन्ध लिखिये।